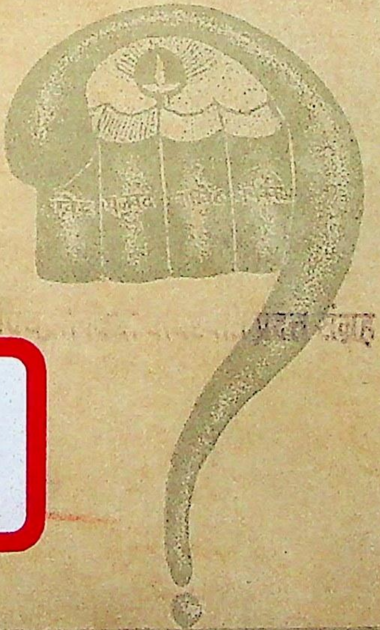
क्या वेद में इतिहास है



आर्य साहित्य मण्डल लि० अजमेर

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३० वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

* ओ३म् *

क्या वेद में इतिहास है ?

लेखकः—

चतुर्वेद भाष्यकार

श्री पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार मीमांसातीर्थ,

प्रकाशकः—

आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड,

अजमेर

प्रथमावृत्ति १००० | सं० २०१० वि०, सन् १९५४ ई० | मूल्य २॥)

प्रकाशक:—
आर्य साहित्य मण्डल लि०,
अजमेर

मुद्रक:—
श्री शिरोशचन्द्र शिवहरे, एम० ए०,
दी फ़ाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर

❀ ओ३म् ❀

लेखक के दो प्राक्-शब्द

"क्या वेद में इतिहास है ?" इस प्रबन्ध को लिखने की प्रेरणा तो पाठक 'प्रेरणा' में पढ़ेंगे।

इस पुस्तक के सम्बन्ध में केवल इतना ही प्राक् शब्द लिखना आवश्यक समझता हूँ कि पाठकगण प्रथम यह समझें कि इस प्रकार के विवेचना ग्रंथों का निर्माण क्यों आवश्यक है ? और उनका अध्ययन किस ढंग से करना चाहिए।

वेद ऋषियों के 'दर्शन' हैं। उन्होंने योग द्वारा साक्षात् तत्वों का अवलोकन किया है और उसको शब्दों में प्रकट किया। पर प्रश्न है कि वे शब्द कौन से हैं जिनमें वेद प्रकट हुए। प्रथम सृष्टि काल में जीवों का प्रादुर्भाव हुआ। जड़तत्वों से चेतन उत्पन्न नहीं हुआ, न अन्धी ज्ञानरहित शक्तियों ने मिलकर जगत् को बनाया। यह विश्व अवश्य एक चेतन, ज्ञानवती महती शक्ति ने बनाया। और विश्व को चेतन, भोक्ता जीवों के सुख दुःख भोग के लिए ही बनाया है। इससे दूसरा कोई प्रयोजन दृष्टिगोचर नहीं होता है। फिर बिना कारण के सुख दुःख भी नहीं है। सुख दुःख फल होने से उनका प्राप्ति का मूल धर्म अधर्म ही है। वे धर्म-अधर्म, अच्छे बुरे काम अवश्य उस जीव के हैं जो सुख दुःख भोगता है।

तब सृष्टि के आदि में भी जीवों का सर्ग इसी प्रयोजन से अपने पूर्व जन्म के शुभाशुभ कर्मों के फल भोगाथे इस लोक में लाखों की संख्या में हुआ। और वे नाना रूपों में, काय-संन्निवेशों में थे। और उसी प्रकार मानव भी उत्पन्न हुए।

मानवों में भी अनेक बौद्धिक स्तर होने संभव हैं । उनमें भी सर्वोत्तम सात्विक चित्त के चार ऋषियों के चित्त में चार वेदों का ज्ञान प्रकट हुआ । सात्विक भावना से प्रेरित उन ऋषियों से आगे उत्पन्न विद्वानों ने ज्ञान प्राप्त किया और इस प्रकार गुरु परम्परा से ज्ञान-प्रसरण हुआ ।

वह ज्ञान अवश्य किसी भाषा में था । अर्थात् ज्ञान का अर्थ स्वरूप और उसका वाचक शब्द भी दोनों नित्य सम्बद्ध होने से सृष्टि के आदि काल में उन दोनों का ईश्वरीय अर्थात् अपौरुषेय होना आवश्यक है । सर्वप्रथम होने से उस ज्ञान में पश्चाद्भावी घटनाओं का वर्णन होना संभव नहीं है । इस कारण अपौरुषेय वेद में इतिहास होना असंगत बात है । वैदिक प्राचीन परम्परा में यह सिद्धान्त सर्वसम्मत है ।

इसके विपरीत वेद में से अनेक भाष्यकारों व अनुवादकों ने वेद में लौकिक इतिहास निकालने के बहुत प्रयत्न किये हैं । उसी का विवेचन इस पुस्तक में किया है ।

पुस्तक का आकार प्रकार बहुत विस्तृत नहीं है । तो भी वैदिक विषय होने से वह बहुत रोचक भी नहीं है । इसलिए पाठकों को प्रथम विस्तृत विषय-सूची का अध्ययन करना चाहिए कि इस पुस्तक में कितने विषयों का कहाँ २ वर्णन किया है । पाठक अपनी रुचि के अनुसार क्रमशः छांट-छांट कर भी पढ़कर उसका मनन करेंगे तो उनकी वैदिक अनुशीलन में रुचि बढ़ने लग जावेगी । और इस विषय में पर्याप्त गति हो जावेगी ।

यह तो वेदप्रेमी सर्वसाधारण पाठकों के लिए निर्देश है । इसके अतिरिक्त जो वैदिक अनुशीलन में प्रौढ़ विद्वान् हैं उनके लिए

तो यह प्रयास एक विनोद का विषय है। वे निष्पक्ष भाव से इस ग्रन्थ का अनुशीलन करेंगे और स्वपक्ष का विशेष आग्रह नहीं करेंगे तो अवश्य मेरे प्रयास से गुण ग्रहण करेंगे।

अभी इस प्रयास में अनेक त्रुटि हैं। जैसे मैंने 'श्वासों' का अक्रम रखा है। वह कुछ श्वासों तक तो लिखा फिर उनका निर्देश नहीं किया। उसको सूची के निर्देश के अनुसार समझना चाहिए। प्रूफ शोधनादि की त्रुटियाँ भी स्वाभाविक हैं। कुछ विद्वान् अनुशीलकों की पुस्तकें उचित अवसर पर हस्तगत न होने से उनके मथित सारतत्वों का उपयोग नहीं कर सके। इसका तो हमें बहुत ही खेद है।

फिर यह प्रयास इसी प्रयास तक सीमित नहीं रहेगा। यह प्रयास तो ऋग्वेद के केवल ७ वें मण्डल तक ही सीमित है। मेरा ध्येय लक्ष्य ऋग्वेद के सब मण्डलों का इसी प्रकार विवेचन करना है। जिससे समस्त वेदों में प्रसरित इस प्रकार के संदिग्ध स्थलों का स्पष्टीकरण हो जाय। यह सब भविष्य के गर्भ में है।

यह ग्रंथ मैं बड़े आदर से उन विद्वान् महानुभावों के करकमलों में ही समर्पित करता हूँ जिनके विचार संदर्भों से इस ग्रंथ को सजाया गया है और जिनके कर कमलों में आकर उनके नयनों से अवलोकन किया जाकर जिनकी बुद्धि-सरिता में यह विशेष स्फूर्ति-वीचियों को उत्पन्न करने में समर्थ होगा।

इस ग्रंथ के लिखने का ही प्रधान प्रयोजन यह है कि वैदिक विद्वानों के द्वारा मथित नवनीत वेदप्रेमी सज्जनों को आस्वाद करने को मिले और वेद का गंभीर निरपेक्ष, निर्मल ज्ञान हृदयों में प्रकाश करे। अधिक से क्या?

अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः।

२०१० वि०। —लेखक

❀ ओ३म् ❀

प्रेरणा

श्री दीवान रामनाथजी कश्यप एक सम्पन्न पुरुष होकर भी वेद-स्वाध्याय के अत्यन्त प्रेमी हैं। आपकी वेदों पर अपार भक्ति और प्रेम है। मेरे किये वेदों के अनुवाद का आपने बड़ी लगन से पारायण किया था। इसी स्नेह से आपका मेरा परिचय हुआ। बाद को मालूम हुआ कि आप विद्यार्थि काल में भी मेरे परिचय में आ चुके थे। उस समय आप गुरुकुल कांगड़ी में कार्यकर्ता होकर आये थे और कुछ काल के बाद आप गुरुकुल छोड़कर चले गये थे।

किसी फलित ज्योतिषी ने आपकी आयु की अवधि अत्यल्प बतला कर चिन्तित सा कर दिया था। आप उस समय मेरे भाष्यों से ऋग्वेद का तीसरा खण्ड पढ़ रहे थे। आपको चिन्ता हुई कि जिस गति से मैं वेदभाष्य पढ़ रहा हूँ अपने जीवन में समस्त वेद भाष्य का पारायण नहीं कर सकूंगा। आपने आर्य साहित्य मंडल लि० अजमेर के पते से मुझे अपने विचार प्रकट किये। मैंने आपको आश्वासन दिया। कालक्रम से वेद भाष्य का पारायण समाप्त हुआ। आपने उस अध्ययन के आधार पर 'वेदों में विज्ञान' विषयक दो पुस्तिकाएं भी प्रकाशित कीं और मित्रों में वितरित करदीं।

इसी प्रकार मेरे साथ आपके सम्बन्ध अधिकाधिक घनिष्ठ होते गये। जीवन के संकट अनेक आये परन्तु ईश्वर की दया से आप आज भी पूर्व परिचय से १०-१२ वर्ष व्यतीत होने पर भी सुखी

एवं स्वस्थ हैं। आप वेद सम्बन्धी साहित्य पढ़ते ही रहते हैं। वैदिक धर्म को आप चिरकाल से पढ़ते रहे हैं। आप सिद्धान्त विषयक संदेह में पड़ने पर समय समय पर मुझ से समाधान पूछते ही रहते हैं।

आपने १०-९-५० के पत्र में वेद में सूर्योपासना विषयक श्री गणपतरावजी के लेख के सम्बन्ध में जिज्ञासा की और मेरी सम्मति पूछी थी। मैंने अभी आपको उस पत्र का उत्तर भी नहीं दिया था कि १४-९-५० को आपने दूसरा पत्र लिखा। श्री पंडित सातवलेकरजी की लेखनी से 'वसिष्ठ ऋषि के दर्शन' लेख माला में ऋग्वेद के मंडल ७ के २२ सूक्त से अधिक का सटिप्पण अनुवाद प्रकाशित हो चुका था। उसे आपने बड़े मनोयोग से पढ़ा, उसके सम्बन्ध में आपने लिखा—

"वैदिक धर्म" अंक असौज, विषय ऋग्वेद का भाष्य—'वसिष्ठ ऋषि का दर्शन' अनुवाक २। सूक्त १८। मंत्र २२ के अर्थ में श्री पंडित सातवलेकरजी ने वेद भगवान् को ऐतिहासिक पुस्तक बना दिया। वसिष्ठ को विशेष व्यक्ति ठहराया है, दो रथों के साथ उसे दो कन्याएं मिली बतलाई हैं, संस्कृत के विद्वान् वेदों के साथ क्रीड़ा ही करते रहे हैं, भाष्य के अन्त में लिखा है 'ऐसे उच्च पदवी के ऋषि को कन्याएं क्यों दी गई। इसकी खोज मननपूर्वक होनी चाहिए।'

"आपका (मेरे भाष्य का) अर्थ हमारे सिद्धान्तों के अनुसार है और मन को भाता है, उनके पास भी कोई युक्ति होगी जिससे ऐसा भाष्य करने का साहस हुआ। इस विषय में बातचीत देहली में करेंगे। पर यदि उत्तर दे सकें तो बतावें कि उनके भाष्य की अशुद्धि निकल सकती (दूर हो सकती) है ?"

"मन्त्र २१ का अर्थ ऐतिहासिक शक्ल लिए हुए है। मैं

२९-१०-५० को प्रातः देहली पहुँचूँगा। इसका उत्तर यहाँ आसकता है पर आपको अवकाश हो तो योग्य सेवा लिखावें—चरण सेवक रामनाथ कश्यप।

एक स्वाध्यायशील वेद प्रेमी पुरुष के उक्त पत्र से मुझे यह प्रेरणा हुई कि वेदों के अर्थों में जितना भी ऐतिहासिक अंश है उसका निराकरण करने का प्रयास अवश्य होना चाहिए। परन्तु १९४५ से जब से मैंने आर्य साहित्य मंडल लि० अजमेर से पृथक् होकर वनस्थली विद्यापीठ में संस्कृत प्राध्यापक (प्रोफेसर) का कार्य प्रारम्भ किया था तब से मेरे पास वेद सम्बन्धी आधार ग्रंथों का सर्वथा अभाव था। मैं बहुमूल्य ग्रन्थों को स्वतः किस प्रकार खरीद सकता था तो भी यथामति मैंने अपने पत्र में श्री कश्यपजी का समाधान किया। मेरा समाधान पढ़कर आपको बहुत सन्तोष मिला। आपने अपने २०-१२-५० के पत्र में लिखा—

"ऋग्वेद भाष्य के बारे में तो आपने कमाल कर दिया। व्याकरण की बिनाह (आधार) पर आपने श्री पं० सातवलेकरजी की बात का पूरा उत्तर लिख दिया। मेरा आशय आपको इतना कष्ट देने का कदापि न था। मैं दुःखी हूं कि आपको कष्ट हुआ। मैं तो इतना ही चाहता था कि क्या व्याकरण के (आधार) पर पंडितजी का अर्थ अशुद्ध ठहराया जा सकता है ? यदि आप 'हां' लिख देते तो मेरा मतलब पूरा (हो गया) था। मैं आपका कोटि कोटि धन्यवाद करता हूं। यदि आप इन मन्त्रों का अर्थ कुल सबूतों (प्रमाणों) सहित लिखें जो स्वामी (दयानन्दजी) महाराज की शैली के विरुद्ध हैं (उसके प्रतिवाद में) तो ट्रैक्ट की शक्ल में छपवादें, मेरे व्यय पर। और आर्य समाजों को भेजें। वधुओं दिये जाने वाले मन्त्र का अर्थ तो स्वामी (दयानन्दजी) के भाष्य

में है, उसमें केवल व्याकरण की पुष्टि देनी है। इसी प्रकार वसिष्ठ ऋषि के मन्त्र संख्या २९३, २९४, २९५ में भी गड़बड़ है। या भाष्य वैदिक धर्म अंक कार्तिक २००७ में है।"

आपने जिस प्रकार मेरे से यह पत्र व्यवहार किया उसी प्रकार अपने प्रश्नों का समाधान करने के लिए गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी हरद्वार के आचार्य से भी किया और इसी प्रकार का पत्र-व्यवहार वसिष्ठ ऋषि के दर्शन के मूल लेखक श्री पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर भट्टजी से भी किया। इन पत्र-व्यवहारों को हम अन्यत्र परिशिष्टों में प्रकाशित कर रहे हैं, पाठक उन पत्रों को वहाँ ही पढ़ें। पत्रों को पढ़ने से स्पष्ट है कि श्री कश्यपजी का समाधान दोनों स्थानों से नहीं हुआ। वे इस बात के बहुत ही उत्कट इच्छुक थे कि उक्त वातों का समाधान अवश्य बहुत शीघ्र लिखा जाय।

आपने १२-४-५१ के पत्र में मुझे ही पुनः प्रेरित किया। मैं आधार ग्रन्थ सामग्री से रहित था। आपने १५०) रुपये केवल इसलिए भेजे कि सायण आदि के वेदभाष्य व अन्य आवश्यक ग्रंथ तुरन्त मंगाकर कार्य शुरू करदूं। वे चाहते थे कि मैं १९५१ के अवकाश मास मई, जून में ही यह कार्य समाप्त करदूं। परन्तु यह कार्य इतनी जल्दी होने वाला नहीं था। मैंने कार्य प्रारम्भ कर दिया। आधार ग्रन्थ भी संग्रह कर लिये। बीच में अनेक बाधाएं आईं तो भी मैं तो कार्य में लगा रहा। आप बराबर मुझे इस निबन्ध के बारे में पूछताछ करते रहे, परन्तु कार्य ने तो अपना उचित देश, काल लेकर ही होना था। और वह अब अंशतः समाप्त हो गया है। मुझे भी इस बात का सन्तोष है कि काल अवश्य अधिक लगा, परन्तु कार्य सम्पन्न हो गया है।

अब तो पाठकों पर निर्भर है कि वे इस कार्य में जो मेरे लेखन में त्रुटि रह गईं उनकी ओर मेरा ध्यान खींचें जिससे आगे के संस्करणों में भविष्य में उन त्रुटियों को भी विचारपूर्वक दूर किया जाय। विद्वानों से तो यहां तक आशा है कि वे मेरे किये समाधानों से अतिरिक्त समाधान भी जो उनके पूर्व विचारित हैं मुझे बतलाएं जिससे कालान्तर में उनके विचारों को भी मानपूर्वक अगले संस्करणों में प्रस्तुत किया जा सके।

विद्वानों का अनुचर
जयदेव शर्मा विद्यालंकार,
मीमांसातीर्थ

२६ दिसम्बर १९५१,
१२ बदी मार्गशीर्ष २००८ वि०

ओ३म्

क्या वेद में इतिहास है ?

विषयसूची

प्रथम श्वास (पृ० १–२४)

द्वितीय श्वास (पृ० २५)

तृतीय श्वास

चतुर्थ श्वास

पंचम श्वास

षष्ठ श्वास

श्री सातवलेकर का मत। 'अप्सः' वसिष्ठाः—प्राण (पृ० ५१)। पट-वयन विद्या का विवेचन (पृ० ५१–५७)। पटवयन का ब्रह्मविद्या विषयक अलंकार (पृ० ५६)। वेधस् कौन? (पृ० ५६)।

वसिष्ठः वसिष्ठाः—एकवचन बहुवचन पर विचार (पृ० ५७) प्रसंगतः, भृगवः, द्रुह्यवः, तुर्वशाः, तृत्सवः, शिग्रवः पर प्रकाश (पृ० ५८–६०)। देवक और शम्बर (पृ० ६१)।

पाराशर और वसिष्ठ (पृ० ६१–६२) शतयातु पर विचार (पृ० ६२)। देववान्, पिजवान्, दिवोदास, सुदास्, युध्यामधि, पर विचार (पृ० ६३–६८)। वेद मन्त्रों के विचार के लिए उचित दृष्टिकोण (पृ० ६७–६८)।

सप्तम श्वास

सुदास शब्द पर विचार (पृ० ६८)। सुदास, सुदाः (सुदास्) का विवेक (पृ० ६८)। सायण का मत (पृ० ६८–७०) तरप्, तमप् का अभिप्राय (पृ० ७०)। सुदास् इन्द्र का विशेषण (पृ० ७१) सायण की भूल (पृ० ७१)।

उतप्रेत कुशिका० (ऋ० ३ । ५३ । ११) मन्त्र पर विचार। सायण का विकृतार्थ (पृ० ७१)। सायण की दुरंगी चाल (पृ० ७२)।

सुदास्, सुदानु, दाशुष् शब्दों का समानार्थ (पृ० ७३)। ऐति-हासिक पक्ष वालों की जिद्दपूर्ण शरारत वा भूल (पृ० ७४)। सायण की कचाई (पृ० ७४)।

वसिष्ठ दृष्ट मण्डल में सुदास् के प्रसंग पर विचार (पृ० ७४–८७) मित्रस्तन्नो० (ऋ० ७ । १८ । ७) पर विचार (पृ० ७४–७५)।

युवां नरा० (ऋ० ७।८३।१) मंत्र पर विचार दासा, वृत्रा, आर्याणि इन नपुंसक प्रयोगों पर विचार (पृ० ७६–७७)।

क्यों 'सुदास्' पद व्यक्तिवाचक नहीं (पृ० ७८)। डा० सीतानाथ प्रधान के मत का विवेचन (पृ० ७८–७९)। इन्द्रावरुणा० (ऋ० ७। ८३। ४) मंत्र पर विचार। (पृ० ७९–८०) भेद नामक असुर का खण्डन। तृत्सुओं पर विचार (पृ० ८०)।

युवां हवन्त० (ऋ०७।८२।६) मंत्र पर विचार (पृ० ८१) सुदास्, अयज्यु दश राजा तृत्सु का प्रसंग (पृ० ८१–८५)। दाशराज्ञे० (ऋ० ७। ८३। ८) मंत्र पर विचार (पृ० ८३–८५)। एवेन्नुकं० (ऋ० ७। ३३। ३) मंत्र पर विचार। द्वादश और दश राजा (पृ०८५)। इन्द्र वरुण कौन हैं ? श्री सीतानाथ प्रधान का मत (पृ० ८५)। श्री वृत्राण्यन्यः० (ऋ० ७। ८३। ९) मंत्र पर विचार (पृ० ८६–८७)। इन्द्र वरुण कल्पित देवता नहीं (पृ० ८६)। सुदास् राजाओं की संगति (पृ० ८७)।

सुदास् का स्वरूप (पृ० ८७) अस्मै इन्द्रा० (ऋ० ९। ८४। ४) मन्त्र पर विचार (पृ० ८७–८८) सुदास् की तुलना के ३० से अधिक शब्द (पृ० ८७–८८)।

यद गोपावद्० (ऋ० ७। ६०। ८) और अपे वेदिं० (ऋ० ७। ६०। ९) मन्त्रों पर विचार (पृ० ८८–८९) अदीन मित्र, वरुण कौन ? (पृ० ८८) 'सुदासे' का सायणीय अर्थ (पृ० ८८–८९) उतो हि० (ऋ० ७। ५३। ३) मन्त्र पर विचार। (पृ० ८९) सुदास् का सायणार्थ (पृ० ९०)। एवेन्नु० (ऋ० ७। ३२। ३) मन्त्र पर विचार। भेद असुर दश राजा, वसिष्ठ पर विचार (पृ० ९१–९२)। उद्द्याम्० (ऋ० ७। ३३। ५) मन्त्र पर विचार (पृ० ९२)।

दण्डा इव० (ऋ० ७। ३३। ६) मन्त्र पर विचार (पृ० ९३) वसिष्ठ, तृत्सु, भरत पर विचार (पृ० ९३–९४) तृत्सुओं का विवेचन

इयं शुष्मेभि:० (ऋ०६।६१।२) मन्त्र पर विचार। सायण का अर्थ। सरस्वती का नदीवत् वर्णन (पृ० १३२)। विद्युत्मय सरस्वती (१३३)। यस्वा० (ऋ० ६। ६१। ५) मन्त्र पर विचार। सरस्वती वाजिनी, घोरा, हिण्रयवर्त्तनि आदि विशेषणों का स्पष्टीकरण (पृ० १३४)। सप्तस्वसा, सरस्वती (पृ० १३४)।

एकादश श्वास

वसिष्ठ दर्शन के सरस्वती सूक्त पर विचार—सरस्वती विशेष नदी संभव नहीं (पृ० १३५–१३६) अग्ने याहि० (ऋ० ७। ९। ५) मन्त्र पर विचार। शं नो० (ऋ० ७। ३५। ११) मन्त्र पर बिचार। आयत्० (ऋ० ७। ३६। ६) मन्त्र पर विचार। सरस्वती विद्या (पृ० १३६)। सिन्धु की माता, सातवीं सरस्वती पर मतभेद (१३८)। सरस्वती वाणी (पृ० १३९)। ऋषि दयानन्द का प्रकाश (पृ० १४०)। विशेष नदी मानने में दोष (पृ० १४१)। अलंकार का प्रयोग (१४१)। अग्ने० (ऋ० ७। ३९। ७) मन्त्रपर विचार। सायणादि के अर्थ पर विचार (पृ० १४२)। मित्र वरुणादिक, विद्यावाणी सरस्वती (पृ० १४३)। सेदुग्रा० (ऋ० ७। ४०। ३) मन्त्र पर विचार। सायणादि के अर्थों पर विचार (१४३) पृषदश्वा मरुत् उनकी बिना चक्र की स्लेज गाड़ियाँ। पृषदश्व-बारह सींगा, ऋषि दयानन्द के मत में रेलगाड़ियाँ (पृ० १४३)। सरस्वती का देवतावद् वर्णन (पृ० १४४)। प्र क्षोदसा० (ऋ० ७। ९५। १) मन्त्रपर विचार। सायण से मतभेद। उपमान उपमेय पर बिचार (पृ० १४५)। शरीर गत वाणी की उत्पत्ति। सरस्वती स्त्री (पृ० १४६)। एका चेतत्० (ऋ० ७। ९५। २) मन्त्र पर बिचार। मन्त्रगत 'नाहुष' पद पर विचार (पृ० १४७)। नदी सामान्य सरस्वती। नाहुष को सरस्वती का घी, दूध देने का अभिप्राय (पृ० १४८)। नाहुष राजा क्यों नहीं ? (पृ० १४८)। यास्क की दिशा से विचार (पृ० १४८)। मधु, घृत,पयस् का गूढार्थ। नाहुष मनुष्य सामान्य (पृ० १४९)। सरस्वान् पर

द्वादश श्वास

वेदमन्त्रों व उद्धरणों की वर्णानुक्रम सूची

अ

आ

शुद्ध्यशुद्धि-पत्र

पृ०	पं०	अशुद्धरूप	शुद्धरूप
१८	३	एवमायाख्यान....	एवमाख्यान....
२२	१३	न्याविध्य....	न्यविध्य
२५	२	ऐतिहासिक पदा का	ऐतिहासिक पदों का
४६	१४	उद्धत....	उद्धृत
४७	१७	पुरूरा	पूरूरवा
५३	१३	वस्त्रेव	वस्नेव
८५	८	एवेन्नु कंक्तं	एवन्नुकं दा....
८७	१०	वेद । मन्त्रों में से	वेद मन्त्रों में से
८९	५	(ऋ० ६०।७।९)	(ऋ० ७।६०।९) ।
८८	२५	विबदार्ह	विवादार्ह
८८	१८	देबहेडनं	देवहेडनं
१०३	८	उक्तृतं....	उक्थभृतं....
१०५	४	आतृणत्य	आतृणत्त्य
११३	९	वशिष्ठों के	वसिष्ठों के
१४१	५	बावशाना:	बावशानाः
१४९	२१	पावारवी	पावीरवी

ओ३म्

क्या वेद में इतिहास है ?

प्रथम श्वास

१. बहू वाले दो रथ

श्री पं० श्रीपाद जी दामोदर सातवलेकर सम्पादक "वैदिक धर्म" आर्य जगत् में वेदों के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। आर्य समाज के क्षेत्र में रहकर आपने अपने वैदिक साहित्य के निरन्तर स्वाध्याय से आर्य जनता के चित्तों पर प्रभाव और आकर्षण उत्पन्न किया। आपने वेद साहित्य सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ प्रकाशित किए। अथर्ववेद का सुबोध भाष्य प्रकाशित किया। आज से ३१ वर्ष पूर्व आपने वैदिक धर्म मासिक पत्र निकालना आरम्भ किया। इस पत्र द्वारा आपने अनेक विद्वानों को वैदिक क्षेत्र में आकर कार्य करने को प्रोत्साहित किया। और अभी तक भी निरन्तर अनेक विघ्न बाधाओं को पार करके आपने अक्षुण्ण रीति से वैदिक धर्म का प्रकाशन किया। वेद संहिताओं का सुन्दर सुचारु रूप से प्रकाशन, आर्य संहिता को दैवत संहिता रूप में करके छपवाना और अनन्तर इसी क्रम में अनेक देवताओं सम्बन्धी ऋचाओं का भाष्य हिन्दी आलोचना सहित छपाना आदि कार्य सम्पादन किये। कुछ वर्षों से आपने ऋषियों के दर्शन शीर्षक से उनके दृष्ट सूक्तों के हिन्दी में भाषार्थ और आलोचन भी वैदिक धर्म में छापने आरम्भ किये हैं।

आपकी आलोचनाएं और टिप्पणियां विशेष आकर्षक और अपने ढंग की अनूठी होती हैं। यह आवश्यक नहीं कि उनसे अन्य सभी विद्वान् सहमत हो ही जावें। परन्तु श्री पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी ने इस बात पर कभी ध्यान नहीं दिया और वे इसकी परवाह भी नहीं करते। वेद के इतने पुराने अध्येता, अध्यापक एवं

अनुशीलक होकर भी आपने अन्त में यही निष्कर्ष निकाला है कि वेद नित्य ज्ञान नहीं है, वह एक ऋषियों का बनाया संकलित संग्रह ग्रन्थ है। और उसमें इतिहास की अनेक बातें हैं। इससे वेद की नित्यता नष्ट हो जाती है।

तो भी आपके वैदिक साहित्य में किये श्रमशील अनुशीलन की हम सराहना करते हैं। और वेदानुशीलन के प्रेमी जन उसी से उनके वेदार्थ प्रयत्न का अध्ययन करते हैं।

गतवर्ष १९५० के सितम्बर मास के वैदिक धर्म में आपने 'वसिष्ठ ऋषि के दर्शन' शीर्षक से ऋग्वेद के सप्तम मंडल के मन्त्रों का क्रमिक भाष्य विशेष टिप्पणियों सहित निकालना आरम्भ किया है। मैं वैदिक धर्म का नियम पूर्वक पढ़ने वाला हूँ। तो भी मैं किसी भी स्वतन्त्र लेखक के विचारों का अपवाद करना आवश्यक नहीं समझता। दीवान श्री रामनाथजी कश्यप ने मेरा ध्यान ७ वें मण्डल के १८ वें सूक्त के मन्त्र २२, २३ पर आकर्षण किया। और लिखा कि यहाँ वैदिक सिद्धान्तों के विपरीत अर्थ किया है। इसका अपवाद निकालना आवश्यक है। आपने इस सम्बन्ध में श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी से भी विचार विनियम किया। श्री पं० जी का समाधान श्री दीवान साहब को नहीं रुचा। उनके उत्तर से विदित होता था कि वे निश्चित ही वेद में इतिहास होना स्वीकार करते हैं। और उनका आग्रह है कि वेद में मन्त्र ऐतिहासिक घटना को ही बतलाते हैं। उनका किया अर्थ ठीक है। इसके अतिरिक्त जो ऋषि दयानन्द और अनेक पूर्वाचार्यों का सिद्धान्तानुसरण करके वेद में इतिहास परक अर्थ नहीं मानते वे इन मन्त्रों का अर्थ गलत करते हैं। पंडितजी के साथ हुए पत्रव्यवहार को हम परिशिष्ट में पाठकों की सुविधा के लिए देंगे। (परिशिष्ट सं० २)

२. 'सुदास' ने वसिष्ठ को 'बहू' वाले दो रथ दान में दिये

इतनी भूमिका के पश्चात् हम 'वेद में इतिहास है ?' इस प्रश्न की विवेचना के लिए अग्रसर होते हैं। इस विचारमाला का सबसे प्रथम शीर्षक 'सुदास ने वसिष्ठ को' 'बहू' वाले दो रथ दान में दिये, यही हमने चुना है कारण श्री पं० जी के लेख में श्री दीवान साहब को उनका इस विषयक लेख ही प्रथम उद्वेजक हुआ है इसका समाधान करने के उपरान्त हम अन्य भी कुछ ऐतिहासिक समस्या और दान स्तुतियों का भी विचार करेंगे। हमारा यत्न ऐसा होगा जिससे ऐतिहासिक पक्ष मानने वालों के सब आधारों का विचार शास्त्रीय रीति से हो जावेगा और फिर उस रीति से वेदों की अनेक ऐतिहासिक समस्याएं पाठकों को समझने में बहुत सुविधा हो जावेगी।

वेद के उक्त दोनों मन्त्र इस प्रकार हैं।

द्वे नप्तुर्देववतः शते गो र्द्वा रथा वधूमन्ता सुदासः।
अर्हन्नग्ने पैजवनस्य दानं होतेव सद्म पर्येमि रेभन् ॥२२॥
चत्वारो मा पैजवनस्य दानाः स्मद्दिष्टयः कृशनिनो निरेके।
ऋज्रासो मा पृथिवीष्ठाः सुदासस्तोकं तोकाय श्रवसे वहन्ति ॥२३॥

(ऋ० मं० ७। सू० १८। मन्त्र २२, २३)

इन मन्त्रों का अर्थ श्री पं० सातवलेकर जी ने इस प्रकार किया है:—

"हे (अग्ने) अग्ने। (देववतः नप्तुः) देवभक्त के (पौत्र, पैजवनस्य सुदासः) पिजवन के पुत्र सुदास की, (गोः द्वे शते) दो सौ गायें (वधूमन्ता द्वा रथा) वधुओं के साथ दो रथ (दानं रेभन्) इस दान की प्रशंसा करता हुआ मैं (अर्हन्) योग्य (होता इव सद्म परि एमि) होता यज्ञघर में जाता है, वैसा मैं अपने घर में आता हूँ ॥२२॥

(पैजवनस्य सुदासः) पिजवन के पुत्र सुदास राजा के (स्मद्दिष्टयः कृशनिनः) दान में दिये, सुवर्ण के अलंकारों से लदे, (निरेके ऋज्रासः) कठिन स्थान में भी सरल जाने वाले ऐसे सुशिक्षित (पृथिवी-स्थाः दानाः चत्वारः) पृथ्वी पर प्रसिद्ध दान में दिये चार घोड़े (तोकं मा) पुत्रवत् पालनीय मुझ वसिष्ठ को (तोकाय श्रवसे वहन्ति) पुत्रों के पास यश के साथ जाने के लिए ले जाते हैं ।।२३।।"

वेद मन्त्रों के इन अर्थों पर श्री पं० सातवलेकर जी ने निम्न लिखित टिप्पणी दी है ।

मन्त्र २२ पर टिप्पणी:—

"इस मन्त्र (२२) में एक राजा से गौवें, दो रथ तथा रथ के साथ कन्याएं दान में मिलने का उल्लेख है । इस तरह के दान ऋषियों के आश्रमों को मिलते थे, जिन पर आश्रम चलते थे । ऐसे दान देने चाहिए, यह इसका तात्पर्य है ।

"गौएं तो छात्रों के दूध पीने के लिए हैं । और घोड़े तो वहन के कार्य के लिए हैं, पर वधुएं, कन्याएं क्यों दी हैं ? प्रत्येक रथ के साथ कन्याएं क्यों दी जाती थीं यह एक अन्वेषणीय विषय है । कन्याएं यहाँ वसिष्ठ जैसे महातपस्वी ऋषि को मिली हैं । और वसिष्ठ तो श्रेष्ठ से श्रेष्ठ ऋषि हैं । इसलिए इसकी खोज मनन पूर्वक होनी चाहिए ।"

मन्त्र २३ पर टिप्पणी:—

"दो रथों के साथ प्रत्येक रथ में दो घोड़े मिलकर चार घोड़े हुए । ये घोड़े सुवर्णालंकारों से लदे थे । इससे अनुमान हो सकता है कि कितना धन वसिष्ठ को एक ही समय में मिला होगा । ऐसे दान मिलने चाहिए और देने चाहिए, यह इसका तात्पर्य है ।"

श्री पं० सातवलेकरजी के दोनों मन्त्रों के भाष्यों में अनित्य

इतिहास ध्वनित होता है। दोनों मन्त्रों में पंडितजी के मत से (१) सुदास कोई राजा है, जिसका पिता 'पिजवन' है और पिता का पिता देववत् है जिसको श्री पंडित जी ने देवभक्त कर दिया है। (२) पैजवन सुदास ने पृथिवी पर प्रसिद्ध चार घोड़े दान में वसिष्ठ को दिये। (३) वसिष्ठ उन पर चढ़ कर यश मान प्राप्त करने के लिये पुत्र के पास गया। (४) वधूमान् दो रथ और दो सौ गाएं सुदास ने वसिष्ठ को दीं। जिनकी प्रशंसा करता हुआ वसिष्ठ यज्ञ के गृह में आता है।

इन पंक्तियों से पंडितजी को अनुमान हुआ कि गौएं तो दूध पीने के लिए हैं, रथ और घोड़े वाहन कार्य के लिए थे, परन्तु यह एक गवेषणा की बात है कि रथ के साथ कन्याएं क्यों दी जाती थीं। वधुएं कन्याएं थीं। ये कन्याएं वसिष्ठ महातपस्वी को मिली हैं। वसिष्ठ तो श्रेष्ठ से श्रेष्ठ ऋषि हैं इसलिए इसकी खोज मनन-पूर्वक करनी चाहिए।

जब पंडितजी ने देववान् 'देववान्' (देवभक्त ?) का पुत्र 'पिजवन' और उसका पुत्र 'सुदास' ये ऐतिहासिक राजा मान लिये और उनका पुरोहित वसिष्ठ मान लिया। उसके दिये दान में ४ घोड़े, २ बहुएं और २०० गायें भी स्वीकार करलीं हैं तब उनके प्रयोजन भी कल्पना कर लेना कठिन नहीं था। याज्ञवल्क्य भी तो बड़े ऋषि थे, जनक महाराज के गुरु थे, इनके भी दो स्त्रियां थीं, मैत्रेयी और कात्यायनी। उसी प्रकार इतिहास में वसिष्ठ को भी दो वधू मिलीं तो आश्चर्य की क्या बात है ? क्यों मिलीं इसकी खोज के लिये दूर जाने की भी आवश्यकता नहीं है, वेद में स्पष्ट है "श्रवसे, तोकाय," एक तो यश के लिए दूसरे तोक, अर्थात् अपत्य, पुत्र, सन्तान उत्पन्न करने के लिए। क्या बड़े तपस्वी ऋषि सन्तानहीन शोभाजनक हैं। राजा ने ब्रह्मचारी वसिष्ठ को २०० गायें, दो रथ,

चार घोड़े, दो कन्या, दो वधू, वसिष्ठ पैजवन के दान की स्तुतियां गाते हुए घर आ रहे हैं इससे वसिष्ठ की स्थिति का पता लगता है। वसिष्ठ अभी नवयुवक होंगे। वसु ब्रह्मचारी २४ वर्ष के होते हैं, उनमें वे श्रेष्ठ होकर वसिष्ठ होंगे, उनको राजा ने गृहस्थ होकर सन्ततिलाभ के लिए दो कन्या दीं, तो आश्चर्य की क्या बात हो गयी। ऐतिहासिक पक्ष मान लेने पर तो ये सब ठीक ही मालूम होती हैं। 'श्रव:' अन्न को भी कहते हैं, वसिष्ठ को भोजन पाक में सुविधा हो, इसलिए एक वधू दी हो तो क्या विस्मय है। संभव है, यह दान वसिष्ठ को शक्ति नाम के पुत्र होने के पूर्व मिला हो। इतिहास में वसिष्ठ के भी सैकड़ों पुत्र थे, यदि वसिष्ठ वृद्ध थे तो वधूएं उनके पुत्रों के लिए भी राजा से प्राप्त हो सकती हैं। भीष्म पितामह वृद्ध ब्रह्मचारी थे तो भी काशिराज की कन्याएं राजकुमारों के लिए लाये थे। मंत्र में यह तो नहीं लिखा कि वे वसिष्ठ को विवाह दी गईं। 'वधुमन्ता द्वा रथा' वधू वाले दो रथ·······मात्र लिखा है। वे पुत्र वधू भी हो सकती हैं।

इसी प्रकार मंत्र २३ में 'चत्वारः दानाः' लिखा है। पंडितजी ने इनके अर्थ चार घोड़े किया है। समस्त मंत्र में घोड़ों का नाम भी नहीं है। अनुमान मात्र है कि दो रथ हैं, इसलिए उनमें चार घोड़े लगे होंगे। इससे ये चार घोड़े ही मानना सुसंगत है। २२ वे मंत्र में स्पष्ट है कि 'द्वा रथा बधूमन्ता' दो रथ वधूमन्त थे, उनमें वहन करने वाली घोड़ियाँ थी।

वधू शब्द से स्त्रियां लेना यह भ्रम सायण भाष्य से या उसके पीछे चलने वाले लेखकों से फैला है। ऋ० १।११६।३ में लिखा है।

उप मा श्यावाः स्वनयेन दत्ताः
बधूमन्तो दशरथासो अस्थुः॥

यह कक्षीवान् दृष्ट मंत्र है। अर्थ....मुझे स्वनय से दिये गये श्याम वर्ण के (घोड़े से जुते) वधूमन्तः दशरथासः, जिनपर वधू चढ़ी हैं ऐसे दस रथ (अस्थुः) प्राप्त हुए। यह सायण कृत अर्थ है। 'वधूमन्तः' का अर्थ किया है "वधूमन्तः आरूढाभिर्वधूभिस्तद्वन्तः। वधू उन पर चढ़ी थी, उन वधुओं से वे रथ वधूमान थे।

वसिष्ठ दृष्ट प्रस्तुत इस मंत्र पर सायण लिखते हैं—"वधूमन्ता वधूसंयुक्तौ, द्वा द्वौ, रथा रथौ वधूमन्ता अर्थात् वधू से संयुक्त क्या उन रथों में वधू जुड़ी थीं ? सायण अपने पूर्व लेखानुसार रथ में बैठी वधू ही ले रहे हैं। ऋ० ६। २७। ८ में चायमान अभ्यावर्त्तिन् की दान स्तुति है।

द्वयां अग्ने रथिनो विंशतिं गा वधूमन्तो मघवा मह्यं सम्राट्।
अभ्यावर्ती चायमानो ददाति दूणाशेयं दक्षिणा पार्थवानाम्॥

सायण के अनुसार भरद्वाज अभ्यावर्ती से दिये धन के सबम्न्ध में कहते हैं।

हे अग्ने ! धनवान् सम्राट् चयमान के पुत्र अभ्यावर्ती नाम के राजा ने (रथिनः वधूमतः) रथ सहित। वधूवाले अर्थात् (स्त्रीयुक्तान्) स्त्री वाले (द्वयान् मिथुन भूतान् विंशतिं विंशतिं संख्याकान् गाः पशून् मह्यं ददाति प्रायच्छत्) दो दो अथांत जोड़े संख्या में २० गौ पशु मुझे दिए। यहाँ भी सायण को रथ पर चढ़ी वधू अर्थात् स्त्रियाँ ही अभिप्रेत हैं।

इसी प्रवाह में अंग्रेज विद्वान् मेकडानल भी बहे हैं। वे अपने ग्रन्थ 'The Vedic Religion' में लिखते हैं।

On his starting up the raja accosted him with cordiallity and married him to his ten daughters.

इनसे अधिक गंभीर विचार तो महाशय ग्रिफिथ का है जिन्होंने

चारों वेदों का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। आपने लिखा है ...."उप मा श्यावाः स्वनयेन दत्ताः वधूमन्तो दश रथासो अस्थुः।

Horses of dusky colour stood beside me ten chariots Swanaya's with mares to draw them.

अर्थात् मेरे पास लाल काले रंग के घोड़े और दशरथ जिन्हें खेंचने वाली घोड़ियाँ जुती थीं, खड़े थे। स्पष्ट है कि ग्रीफिथ सायण की अभिमत वधू, कन्या, स्त्री आदि नहीं मानते। उनकी दृष्टि में वधू शब्द से निरुक्तार्थ 'वधूर्वहनात्', ढोने से वधू शब्द बना है, अतः रथ को खेंचने वाली घोड़ियाँ लेना उचित है इससे श्री पंडित सातवलेकर जी की समस्या वशिष्ठ को दो वधू या कन्याओं की क्या आवश्यकता थी, वे तो बहुत बड़े तपस्वी थे, यह समस्या हल हो जाती है। परन्तु इससे वेद का नित्य होने का सिद्धान्त नष्ट हो जाता है और इस प्रकार के अर्थों से वेद का गौरव नष्ट हो जाता है। वेदमय, ज्ञानमय ग्रन्थ में वशिष्ठ जैसे महातपस्वी आत्म-वेदी ऋषि अपने दर्शन में राजा सुदास या पिजवन के पुत्र की दी कन्याओं और गायों और रथों की दान सूची बतलावें और प्रसन्नता बतलावें यह क्या 'दर्शन' हुआ यह तो काव्य-इतिहास हुआ।

इसके अतिरिक्त ये मन्त्र जो श्री पं० सातवलेकर जी ने वशिष्ठ ऋषि के दर्शन में बतलाये हैं या इससे पूर्व वैदिक धर्म के अंकों में १९४६ ई० से अब तक १८ ऋषियों के दर्शन प्रकाशित हो चुके हैं, उनमें भी आपका मत है कि वे वेदमन्त्र उन उन ऋषियों के बनाये हैं। उन मन्त्रों में ही उन ऋषियों ने अपने सम्बन्ध की बातें भी लिख दी हैं। इस प्रकार यह ऋषियों का ऐतिहासिक लेखा हुआ जिसमें अपने को राजाओं से प्राप्त दो, दस, ५०, और ५०० या अधिक स्त्रियाँ, दास दासियों का भी उल्लेख हैं। वेद के सम्बन्ध में इससे अधिक गिराने वाली बात और क्या हो सकती है। इसी

प्रकार के आधारों पर योरोपियन लेखकों ने वेद की छानबीन करके परिणाम निकाले हैं कि—वेद काल में नर बलि थी, ऋषि लोग अपने लड़कों को बेचते थे, राजा लोग खरीदते थे, और वरुण को ब्राह्मण पुत्रों की बलि चढ़ती थी, ऐसे यज्ञों के कराने वाले विश्वामित्र जैसे तपस्वी थे। और वेदकाल में बहु विवाह खूब प्रचलित था। ऋषियों में भी बहु विवाह था। स्त्रियों में भी बहु विवाह था। और स्त्रियाँ भी बहु विवाह करतीं थीं और क्षत्रिय लोग ब्राह्मणों का वध भी करते थे। इत्यादि अनाप शनाप सब कलंक उस वैदिक सभ्यता पर आते हैं जिसको हम अपना अति उन्नत और ज्ञान मय सत्ययुग या उत्तम युग कहलाना चाहते हैं और यह भी कलंक वेद जैसी सर्वमान्य पवित्र पुस्तक के आधार पर लगता हो तो चित्त को और भी खेद होता है।

यह सब अनर्थ केवल वेद के मन्त्रों में इतिहास मान लेने से उत्पन्न होते हैं। जिनका आधार वे भाष्यकार हैं जिन्होंने अपनी जिम्मेवारी न समझकर ऐतिहासिक आधारों को प्रथम स्वीकार किया और तदनुसार अर्थ करने के लिए कमर ही कसली।

ऋषि यास्क आचार्य बहुत प्राचीन हैं, निस्संन्देह, परन्तु उनके समय भी वेद के मंत्रों को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने वाले विद्वान् थे जिनका उल्लेख महर्षि यास्क ने निरुक्त में स्थान स्थान पर किया है। यास्क के समय में तो वेदों के सम्बन्ध में बहुत अपवाद फैल चुके थे। 'कुत्स' नाम व्यक्ति के अनुयायी कौत्स तो वेदों को अनर्थक ही बतलाता था। परन्तु वेदानुयायी विद्वानों ने उनका भी तीव्र प्रतिवाद सफलतापूर्वक किया ही है। हम प्रसंग से अधिक दूर न जाकर इस स्थल में प्राप्त ऐतिहासिक योजना की आलोचना करते हैं।

३. ऐतिहासिक पक्ष की उत्पत्ति कहाँ से है

वस्तुतः ऐतिहासिक पक्ष तीन बातों पर आश्रित हैं अर्थात् उसके तीन आधार हैं।

(१) वेद में क्रियापदों के उन रूपों का प्रयोग है जो लोक भाषा में भूतकाल बतलाने के लिए प्रयोग में आते हैं।

(२) वेद में वे अनेक नाम हैं जिनको लौकिक इतिहास में बहुधा सुना जाता है। वे ऋषियों के, राजाओं के, पर्वतों के, नगरों और जनपदों के नाम भी हैं। उनसे अनेक भ्रम उत्पन्न होते हैं।

(३) वेद के सूक्तों के साथ अनेक ऋषियों का नाम जुड़ा है वे वेदमंत्रों के अर्थद्रष्टा न माने जाकर वेदमंत्रों के कर्त्ता, रचने वाले कवि मान लिए जाते हैं। जब वे मानव कर्ता ही मान लिए जाँय तो फिर वेद का नित्यत्व नष्ट हो जाता है, और उसमें अनित्थ इतिहास का समावेश आप से आप मान लेना संभव हो जाता है।

श्री पं० सातवलेकर जी ने वशिष्ठ आदि ऋषियों के दर्शन प्रकाशित करते समय इन तीनों आधारों को स्वीकार कर लिया है। तदनन्तर वेदमंत्रों का अनुवाद और टिप्पणियाँ दी गई हैं। वे प्रस्तुत मंत्र में वसिष्ठ को एक ऋषि मानते हैं। जो पिजवन के पुत्र सुदास नाम राजा से दान लाया, और उसने ही उस दान की स्तुति वेदमंत्र में की। पंडित जी की यह दृढ़ धारणा है। इस प्रकार की धारणा के वशीभूत होकर आपने अभी तक १९ ऋषियों के दर्शन प्रकाशित किये हैं, सर्वत्र इतिहास माना है। उक्त आधारों को मानते हुए वे इतिहास छोड़ना चाहते हुए भी छोड़ नहीं सके हैं, इसका फल यह हुआ कि आप ऐसी समस्या में उलझ गये हैं जिसका समाधान वे उक्त तीनों धारणाएं रखते हुए त्रिकाल में भी नहीं कर सकते।

स्कन्द और सायण, महेश्वर और यास्क, माधव और भरत आदि अनेक आचार्यों ने अपने भाष्यों में यथेष्ट इतिहास परक अर्थ किये हैं तो भी वे अपना मन्तव्य वेद को नित्य मानते हैं और अनित्य इतिहास दिखाकर भी उक्त तीनों धारणाओं से दृढ़तर बद्ध नहीं है। वे अधिकाँश यास्क को प्रमुख पथदर्शक मानते हैं। उनकी उलझन इतनी जटिल नहीं है, क्योंकि निरुक्त प्रक्रिया से सब ऐतिहासिक नाम आलंकारिक विधि से नित्य पदार्थों के वाचक हो जाते हैं।

४. क्या वेद में ऐतिहासिक भूतकाल का प्रयोग है ?

भूतकाल में लोक में तीन लकार प्रयोग में आते हैं लिट् परोक्षभूत में, लङ् अनद्यतन भूत में, और लुङ् सामान्य भूत में। वेद में जहाँ जहाँ क्रिया के साथ इन लकारों का प्रयोग है वेद में इतिहास मानने वाले उन प्रयोगों का अर्थ भूतकाल में करके इतिहास को पुष्ट किया करते हैं। श्री पं० सातवलेकरजी ने अपने बनाये समस्त ऋषियों के दर्शनों में उक्त प्रयोगों का भूतकालिक अर्थ करने का प्रयास किया है। उसको ही वे सत्य समझते हैं और उसकी ही अन्त में विजय होगी ऐसा उनका विश्वास है जैसा कि उनके पत्र से ज्ञात होता है। पाठकों की सुविधा के लिए हमने पण्डितजी का पत्र परिशिष्ट (१) में दे दिया है। खेद से कहना पड़ता है कि पण्डितजी ने स्वयं अपनी लेखनी से ऐतिहासिक अनेक बातों पर हरताल फेर दी है जैसा हम आगे दर्शाएंगे।

वेद में लुङ्, लङ्, लिट्, इन तीनों लकारों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में है। हमारी स्थापना एवं मन्तव्य है कि त्रिकाल सत्यवेद में भूतकाल अर्थ को बतलाने वाला प्रयोग वेद में नहीं है। स्वयं व्याकरण

के कर्ता पाणिनि भी वेद में इन लौकिक भूतार्थ वाचक लकारों का प्रयोग भूतकाल में नहीं मानते थे। वे स्वयं लिखते हैं—

धातु सम्बन्धे प्रत्ययाः ।३।४।१ छन्दसि लुङ् लुङ् लिटः। (२)

अर्थात् छन्दस् अर्थात् वेदों में लुङ् लङ् और लिट् तीनों लकारों का प्रयोग केवल धातु का अर्थ मात्र बतलाने के लिए किया गया है। भूतकाल बतलाना उसका सर्वथा भी प्रयोजन नहीं। पाणिनि पर प्रसिद्ध वृत्ति काशिका का कर्ता जयादित्य लिखता है।

"छन्दसि बिषये धातु सम्बन्धे सर्वत्र
कालेषु लुङ् लङ् लिटः प्रत्ययाः भवन्ति"।

अर्थात् वेद में धातु मात्र के अर्थ में सबकालों में लुङ् लङ् लिट् प्रत्यय होते हैं। विकल्प होने पर अन्य लकार भी हो सकते हैं।

इस पर महाभाष्यकार पतञ्जलि का मत है कि इस प्रकार से ऐतिहासिक पक्ष का लङ्, लुङ् और लिट् लकारों का भूतकालिक अर्थ करना वेद के प्रधान अंग व्याकरण शास्त्र के विपरीत है। जब तक पाणिनि व्याकरण जीवित जागृत है तब तक वेद का ऐतिहासिक भूतकालपरक अर्थ करना वेद के मन्त्रों पर अत्याचार है।

वेद के नित्यत्व के आधार पर अन्तिम ऋषि जैमिनि ने मीमांसा-शास्त्र बनाया है। ऋषि दयानन्द के वचनों से भी ब्रह्मा आदि से लेकर जैमिनि ऋषि पर्यन्त ऋषियों का प्रामाण्य मानने योग्य है। इस अन्तिम ऋषि जैमिनि ने भी मीमांसाशास्त्र में वेदों का नित्यत्व प्रतिपादन किया है। यहाँ समस्त प्रकरण न लिखकर इतना ही प्रसंग दिखलाना पर्याप्त है कि पूर्वपक्ष है—

अनित्य दर्शनाच्च। जै० सू० १।१।२७।

वेद में जन्म मरण वाले बबर आदि शब्द सुने जाते हैं। उनमें गोत्र और वंश आदि का भी ज्ञान होता है, जैसे बबरः प्रावाहणिः। कुसुरुविन्द औद्दालिकः ये तो तैत्तिरीयसंहिता ।७। ।२।१। में है,

और पैजवनः सुदासः इत्यादि ऋग्वेद में भी अनेक प्रयोग हैं। इससे वेद नित्य नहीं है। उत्तर पक्ष····

उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् ॥ २८ ॥

इससे भी वेदों का नित्यत्व नष्ट नहीं होता। शब्दमय वेद का अनादित्व तो कठ आदि प्रवक्ता पुरुषों से भी पूर्व होना प्राचीन ऋषियों ने पूर्व सूत्रों में कहा है।

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः (जै० १।१।५)

अर्थात् शब्द का अर्थ से नित्य सम्बन्ध है। काठक आदि वेद शाखाओं के नाम केवल,

आख्या प्रवचनात् ॥ २९ ॥

प्रवचन करने से ही पड़ गये हैं। वेद तो उन प्रवचनकर्ताओं से भी पहले विद्यमान था। रहा, 'बबरः प्रावाहणिः'। कुसुरुविन्दः औद्दालकिः, पैजवनः सुदासः इत्यादि बाप बेटे, आदि जन्म मरण वाले व्यक्तियों के नाम। उनका समाधान यह है कि—

परं त श्रुतिसामान्यमात्रम् ॥ ३० ॥

बवर, कुसुरुविन्द, सुदास आदि शब्द तो सामान्य शब्द हैं। वे किसी व्यक्ति विशेष के नाम नहीं है। बवरः प्रावाहणिः। बवर ध्वनि करने वाला और प्रवहण, (वहने) के स्वभाव वाला वायु ही तैतिरीयसंहिता में अभीष्ट है। इसी प्रकार कुसुरुविन्द, पैजवन सुदास आदि शब्दों की भी व्यवस्था जाननी चाहिए अर्थात् वे व्यक्ति विशेष के नाम नहीं है, प्रत्युत नित्य शब्दों में बैठे नित्य अर्थ से ज्ञात पदार्थ ही लिये जाते हैं। जैसे सुदाः कल्याणदानः। निरु० २। २५ कल्याण, या शुभदान देने वाला सुदास है। पिजबनः स्पर्धनीयजवः निरुक्त २।२४ जिसका वेग स्पर्धा करने योग्य है। अथवा अपिजबनः सततजबनः। जिसका वेग निरन्तर रहे। कभी गति या शक्ति समाप्त न हो। ये शब्द किसी व्यक्ति को न कहकर शब्द में विद्यमान अर्थ से युक्त सामान्य व्यक्ति या तत्त्व पदार्थ के ही वाचक हैं।

जैमिनि सूत्र भाष्यकार, वृत्तिकार, वार्तिककार आदि अनेक मीमांसा के विद्वानों ने जैमिनि के इस सिद्धान्त सूत्र पर उदाहरणार्थ ब्राह्मणोक्त नामों का उल्लेख करके उनको भी नित्य पदार्थ ही माना है, उनको ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं माना है। क्योंकि वे ब्राह्मणों और उपनिषदों को भी नित्य वेद मानते हैं। फिर मूल चार वेद संहिताओं में आये पैजवन, सुदास् आदि वंश, पिता पुत्रादि की सी सूचना देने वाले प्रयोगों की तो कथा ही क्या है? उनका तो समाधान हुआ ही पड़ा है।

माननीय श्री पं० सातवलेकर जी ने अपने ऋषि-दर्शनों में प्रायः सर्वत्र नामों और उनके गोत्र-वंश सूचक शब्दों पर विशेष टिप्पणियां देकर उनको अनित्य, जन्म-मरण शील व्यक्तियों के वैयक्तिक नाम मान लिया है। आपने जैमिनि ऋषि तक चलती आई आर्य-मन्तव्य वैदिक परम्परा पर इस प्रकार आघात किया है। इनके अपने मन्तव्य भी कितनी कच्ची भित्ति पर हैं इसका निदर्शन भी हम आगे करावेंगे और दिखलावेंगे कि किस प्रकार उन्होंने स्वयं अपने ही मन्तव्य को कैसे काट दिया है। ऋषियों का वह वेद-नित्यत्व का सिद्धान्त जब २ प्रबल होकर मान्य पंडितजी की लेखनी पर ही अधिकार कर गया तब तबपंडितजी की लेखनी ने अद्भुत कला से अपने अनित्य इतिहास का खंडनभी कर दिया है।

अब पुनः पाणिनि ने जो अनित्य इतिहास के बाद पर प्रबल आघात किया है उसका स्पष्टीकरण करते हैं। जैसा लिख चुके हैं कि पाणिनि ने लोक-भाषा में प्रयोग में आने वाले भूतकालिक लकारों का प्रयोग वेद में भूत कालिक नहीं माना है। इससे इतिहास वाद की भित्ति गिर जाती है। जब भूतकाल का प्रयोग वेद में है ही नहीं, तब इतिहास कहाँ रहा। वह तो त्रिकालाबाधित, सत्, वर्तमान हो गया। इस तथ्य को प्रायः सभी वेद-भाष्यकारों ने अपनाया है, जो उनके भाष्यों से उद्धृत करके संक्षेप में दिखलाते हैं।

चतुर्वेद भाष्यकार सायण को ही प्रथम लीजिए। सायण

आचार्य वेद को नित्य मानते हैं। ऊपर जो वचन जैमिनि ऋषि के हमने उद्धृत किये हैं उनका विवरण सहित उल्लेख सायणाचार्य ने अपने ऋग्वेद भाष्य की भूमिका भाग में किया है, और अनित्य पक्ष को नहीं माना है। अब भूतकालिक लौकिक प्रयोगों के समान जो वेद में लुङ्, लङ्, लिट् लकारों के प्रयोग आते हैं उनके अर्थों को दर्शाते हुए सायण ने क्या भाष्य किया है सो भी देखिए।

१. तंगूर्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधिन्वरे।
देवत्रा हव्यमूहिषे॥ सामवेद १०९ मन्त्र।

दधन्विरे धन्वन्ति गच्छन्ति। स्तुत्यादिभिः प्राप्नुवन्ति। धविर्गत्यर्थः। ऊहिषे अभिप्रापया वहेर्लिटि यजादित्वात् सम्प्रसारणम्॥

अर्थ—उस सब के नेता प्रसिद्ध अग्नि को तू स्तुति कर। उस स्वामी देव के (देवाः) स्तुति करने वाले ऋत्विज् लोग स्तुति करते हैं। तू देवों को चरु पुरोडाश आदि हव्य पहुँचा दे।

सायण के इस भाष्य से देवों का इतिहास मानने वालों के इतिहास-वाद की जड़ कट जाती है। सायण ने 'देवासः' का अर्थ ऋत्विजः किया है। दीव्यन्ति स्तुवन्ति देवाः ऋत्विजः। जब सायण की दृष्टि में देव ऋत्विज् विद्वान् लोग हैं तो इन्द्र आदि देव जो इतिहासवादियों के इतिहास के ऐतिहासिक पात्र बने हुए हैं उनका भी मूल कट जाता है।

भूतकालिक क्रिया 'दधन्विरे' है। ऐतिहासिक पक्षवालों के अनुसार इसका अर्थ होता है कि देवगण अरति देव की स्तुति करते थे। वह देवों को हव्य पहुँचाता था।

परन्तु सायण का यह मन्तव्य नहीं है। वह लिट् लकार परोक्ष-भूत के प्रयोग का अर्थ लट् लकार वर्तमान में करता है। और ऊहिषे, लिट् लटकार भूतकाल, परोक्ष के प्रयोग का अर्थ अभि-प्रापय=पहुँचादे, इस प्रकार लोट्, प्रार्थना के अर्थ में किया है। इससे

भूतकालिक लकारों के प्रयोग मात्र देखकर वेद में इतिहास मानने वालों का मूल कट जाता है। क्या सायण ने यह अर्थ शास्त्रानुसार नहीं किया ? क्या सायण व्याकरण 'पाणिनि' के नियम नहीं जानता था ?

२. इदं वसो सुतमन्यः पिबा सुपूर्णमुदरम् ।
अनाभयित् ररिभानते ॥ १० ॥ सामवेद मन्त्र १२४ ॥

सायण—"हे वसो। वासयितः ! इदं पुरोवर्तमानं सुतम् अभिसुतमन्धः अन्नम् सोमलक्षणं पिब। यथा उदरं त्वदीयं जठरं सुपूर्णम् अतिशयेन सम्पूर्णम् भवति तथेत्यर्थं। अनाभयिन् आसमन्तात् बिभेत्याभयी न आभयी अनाभयी तादृशः। हे इन्द्र, ते तुभ्यं त्वदर्थं ररिम उत्कृगुणं सोमं दद्मः। रा दाने। छान्दसो लिट्।"

हे वसो ! सबको बसाने वाले इन्द्र यह आगे विद्यमान (सुतमन्धः) तैयार किया अन्न, सोम जिस प्रकार तुम्हारा पेट भर जाय उस प्रकार पान करो। हे सर्वतो निर्भय ! हम वैसा सोम आपको देते हैं।

'ररिम' यह लिट् का प्रयोग है। जिसका अर्थ सायण 'दद्मः' वर्तमान अर्थ (देते हैं,) करते हैं। उसको वे छान्दस् लिट् अर्थात् केवल धातु सम्बन्ध में किया प्रयोग मानते हैं।

इस मन्त्र में भी 'वसु' 'अनाभयिन्' ये दोनों शब्द ऐतिहासिक नहीं हैं। इनके धात्वर्थ सायण ने किये हैं।

३. उक्थं च न शस्यमानं नागोरयिरा चिकेत।
न गायत्रं गीयमानम् ॥ ३ ॥ साम० २२५ ॥

अर्थ—(अगोः अयिः), अस्तोता का शत्रु, इन्द्र (शस्यमानं उक्थं चन आचिकेत), पढ़े हुए शस्त्र अर्थात् स्तुति मन्त्र को भी जान लेता है। (गीयमानं गायत्रं न) गायन किये जाते हुए गायत्र साम को भी जानता है। इस में सायण ने 'आचिकेत' इस लिट् के धातु प्रयोग का अर्थ 'अभिजानाति' किया है। लिखा है। कित् ज्ञाने छान्दसो लिट्, इन्द्र का विशेषण 'अगु का शत्रु' वेद ने कहा है। 'अगु'

नाम का कोई ऐतिहासिक असुर नहीं है। 'अगु' का अर्थ है 'गो रहित', 'वाणी रहित', जिसके पास व्यक्त शुद्ध वेदवाणी नहीं है। अविद्वान् व्यक्ति 'अगु' है। अगु शब्द की तुलना आप 'अहि' से कीजिए। अहि = अज्ञानी।

इस मन्त्र में भी भूतकालिक 'लिट्' का वर्तमान अर्थ में प्रयोग सायण मानते हैं।

४. मात्वा के चिन्नियेमुरिन्न पाशिनो................सामः २४६
सायण-केचिदपि जनाः त्वां मा नियेमुः, मा नियच्छन्तु गमन प्रतिबन्धं मा कुर्वन्तु इत्यभिप्रायः।

कोई भी पास वाले तुझको बीच में बांध न लें।

इस स्थल में भी लिट् का भूतकाल में प्रयोग सायण ने नहीं माना।

५. अलर्षि युध्म खजकृत् पुरन्दर प्र गायत्रा अगासिषुः ॥
सामः २७१ मन्त्र

अर्थ—हे युद्ध करने वाले ! शत्रु के दुर्गों को तोड़ने वाले ! तू आ। गान करने वाले तेरी स्तुति करते हैं।

'प्र अगासिषुः' यह लुङ् लकार का प्रयोग है। लोक में भूतकाल में प्रयोग किया जाता है। सायण अर्थ करते हैं—प्र अगासिषुः प्रगायन्ति स्तुवन्ति। गाते हैं, स्तुति करते हैं।

उदाहरण के रूप में सायण आचार्य के ये पांच अर्थ के नमूने हमने रख दिये जिन भूतकालिक लकारों का प्रयोग वेद में सायण भूतकाल को नहीं मानते। इससे स्पष्ट है कि लौकिक भूतकाल की सी क्रिया को देख कर भूतकाल का इतिहास निकालने वालों का कितना भारी मतिभ्रम है।

अब ऋग्वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार स्कन्द स्वामी के विचार भी सुनिये। स्कन्द स्वामी ने ऋग्वेद का भाष्य भी किया है और वेदाङ्ग

भूत यास्काचार्य कृत निरुक्त का भाष्य भी किया है। निरुक्त भाष्य में स्कन्द स्वामी लिखते हैं।

एवमायाख्यानस्वरूपाणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्तव्या। एषशास्त्रे सिद्धान्तः। तथा च वक्ष्यति तत् को वृत्रः। मेघ इति नैरुक्ताः (२।१६) मध्यमं च माध्यमिकांच वाचम् इति (१२।१०)। औपचारिकोयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयः परमार्थं नित्यपक्ष इति सिद्धम्॥

(निरुक्तभाष्य पृ० ७८)

अर्थ—इस प्रकार जिन मंत्रों में आख्यान या इतिहास दिखाई देता है उन मंत्रों की योजना भी यजमान में और नित्य पदार्थों में लगानी चाहिए। अर्थात् उनका अर्थ यजमान आदि के कर्तव्य बतलाने आदि परक करने चाहिए या उनमें नित्य पदार्थों का वर्णन देखना चाहिए। ऐसा ही यस्क आचार्य भी कहेंगे कि निरुक्त पक्ष से उन उन स्थानों पर इन्द्र सूक्तो में वृत्र असुर, राक्षस, न माना जाकर मेघ माना जाता है। और वज्र इन्द्र आदि से मध्यम वाक् विद्युत् का वर्णन होता है। मन्त्रों में ऐतिहासक आख्यान का वाद तो गौण है, मुख्य नहीं है। परमार्थ में तो वेद का नित्य पक्ष ही है।

इनके पथ का अनुसरण करते हुए निरुक्त के दूसरे भाष्यकार दुर्गाचाय का मन्तव्य है कि……..

यथा चेयमात्मगतिवाचिका ऋक् तत्र एतस्मिन्नर्थे इतिहासमाचक्षते आत्मविदः। इतिवृत्तं परकृत्यर्थवादरूपेण यः कश्चिद् आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिको वार्थ आख्यायते दिष्व्यु दितार्थावभासनार्थ:स इतिहास उच्यते (निरुक्त भाष्य॥ १०।२६)

विश्व कर्मा विमना० (ऋ० १०।८२।२) यह ऋचा आत्मा की गति का वर्णन करती है। परन्तु आत्मतत्व के वेत्ता विद्वान् लोग इस प्रसंग में इतिहास कहते हैं। इतिवृत्त, परकृति या अर्थवाद रूप से जो कोई आध्यात्मिक, आधिदैविक या आधिभौतिक अर्थ

इतिहास रूप में बतलाया जाता है। यह प्रसंग से कहे अर्थ को स्पष्ट करने के लिए ही दृष्टान्त रूप से ही कहा जाता है। वह वस्तुतः दृष्टान्तवत् गौण है, मुख्यार्थ नहीं है।

वेद में इतिहास न मानने वाले स्कन्द स्वामी जैसे भाष्यकार ने भूतकाल में लोकदृष्टि से आने वाली क्रियाओं का वेदार्थ करते समय क्या अर्थ किया है इसके भी पाठक गण नमूने देखलें। हमारे हाथ में मद्रास विश्वविद्यालय का प्रकाशित स्कन्द स्वामी का ऋग्वेद भाष्य है। प्रथम अष्टक पर्यन्त ही प्राप्त है। पांच उदाहरण यहां लिखते हैं :

१. ऋ० । १ । ३ । ११ ॥ यज्ञं दधे सरस्वती ।

यज्ञं दधे यज्ञं धारयति सरस्वती ।

यहां 'दधे' इस लिट् लकार के प्रयोग का अर्थ स्कन्द स्वामी 'धारयति' करते हैं। अथात् वर्तमान अर्थ करते हैं, भूतकाल का अर्थ वे नहीं करते हैं।

२. अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणाम् अभवः । ऋ० १।४।८।।

'अभवः' यह क्रियापद लङ् लकार का है। स्कन्द लिखते हैं। लोडर्थे लङ्. । घनः अभवः अस्मदीयानां शत्रूणां हन्ता भव ।

तू हमारे शत्रुओं का मारने वाला हो। इस प्रकार 'अभवः' लङ् प्रयोग का अर्थ भूतकाल में न होकर प्रार्थना अर्थ में है।

प्रश्न—वेद के ऋषियों को शत्रु नाश आदि की क्या आवश्यकता है।

उत्तर–स्कन्द स्वामी लिखते हैं····विप्रवैश्ययोरपि शस्त्रादान स्मरणात् संभवति ऋषीणामपि संग्रामः। अथात्····इतिहास में ब्राह्मण और वैश्यों ने भी युद्ध में शस्त्रास्त्र पकड़े, इसलिए ऐसे प्रसंग आने संभव हैं जब ऋषियों का भी किसी शत्रुदल से संग्राम हो। ऐसी दशा में उनकी यह प्रार्थना उचित है।

३. सद्यो वृद्धो अजायथाः । ऋ० १।५।६॥

भा०……त्वं वीर्येण वा वृद्धः प्रतिबन्धकापनयनसमर्थः भवसि। अर्थात् तू वीर्य से (वृद्धः)। विघ्न दूर करने में समर्थ (अजायथाः), होता है।

इस स्थान में 'अजायथाः' लोकदृष्टि से भूतकालिक लङ् का प्रयोग है। पर स्कन्द स्वामी उसका अर्थ वर्तमान काल में करते हैं।

४. त्वां स्तोमा अवीवृधन् त्वामुक्था शतक्रतो। ऋ० १।५।८॥

स्कन्द का भाष्य—स्तोमा अवीवृधन्। त्वाम् अस्मदीयोद्गातृ प्रयुक्तानि स्तोत्राणि वर्धयन्ति।

लोकदृष्टि से 'अवीवृधन्' यह भूतकालिक लुङ् का प्रयोग है। परन्तु भाष्यकार स्कन्द उसका अर्थ वर्तमान काल में 'वर्धयन्ति' करते हैं।

५. आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे। ऋ० १।६।४॥

स्कन्द भा०—आत् अथ अह एव। स्वधाम् उदकम् अनु पश्चात् अनन्तरम्। वृष्टेः पश्चादेव उदकं अनु गर्भत्वम् आपादयन्ति मरुतः।…… पुनर्गर्भत्वम् ईरयन्ति।…… ता एव पुनर्गर्भयन्ति उदकदानेन॥

यहां 'एरिरे' पद लोकभाषा की दृष्टि से भूतकालिक लिट् का प्रयोग है। तो भी स्कन्द स्वामी 'आपादयन्ति, ईरयन्ति, गर्भयन्ति।' आदि सब वर्तमान कालिक अर्थ कर रहे हैं।

फलतः, वेद को नित्य मानने वाले किसी क्रियापद का भूतकालिक अर्थ नहीं कर सकते।

श्री पं० सातवलेकर जी ने जिस प्रकार वसिष्ठ ऋषि का दर्शन लिखा है, उसी प्रकार मधुच्छन्दा आदि १७ ऋषियों के दर्शन भी पूर्व लिखे हैं। उनमें अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनमें भूतकालिक प्रतीत होने वाले क्रिया पदों का प्रयोग है। अनेक स्थानों पर पं० जी ने उनका भूतकालिक अर्थ करने का ही यत्न किया है। परन्तु व्याख्या करते

समय और अनेक स्थानों पर अर्थ करते समय भी वे अपनी स्थापना को निभा नहीं सके हैं। उदाहरण के तौर पर हम उनके पांच स्थल भी यहां उद्धृत करते हैं।

१. शुनःशेप ऋषि का दर्शन (पृष्ठ १०)

(१) को नो मह्या अदितये पुनर्दात् (ऋ० ।१।२४।१)

(२) स नो मह्या अदितये दात् (ऋ० १।२४।२)

अर्थ (१) कौन देव भला हमें बड़ी अदिति के पास पुनः देगा।

(२) वह हमें बड़ी अदिति के पास पुनः देगा।

व्याख्याएं—वह उपास्य देव हम उपासकों को बड़ी अदिति के पास पहुंचाता है। इन मन्त्रों में 'दात्' पद 'दा' धातु से भूतकालिक लुङ्. का प्रयोग है। सिच् लुक् और छान्दस् अट् आगम नहीं हुआ है। सायण अर्थ करते हैं (१) दात् दद्यात् (देवे) (२) दात्, ददातु, (देवे)। पंडित जी ने अर्थ किया है....देगा, व्याख्या में लिखते हैं.... पहुंचाता है। स्पष्ट है कि पंडित जी भी भूतकाल का अर्थ नहीं मानना चाहते और नहीं मानते हैं। इसी प्रकार पृ० ११ में (पुनः दात्) अदिति के लिए पुनः देता है।

२. निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यासु आ। ऋ० १।२५।१० ॥

इस मन्त्र में पंडितजी का अर्थ है वरुण देव प्रजाओं में साम्राज्य के लिए आकर बैठते हैं।

'निषसाद' लोक दृष्टि से लिट् लकार परोक्षभूत का प्रयोग है। तो भी पंडितजी ने वर्तमान अर्थ किया है।

३. हिरण्यस्तूप ऋषि के दर्शन में—'स रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः।'

ऋ० १। सू० ३२। मन्त्र ६ ॥

अर्थ—पश्चात् इन्द्र के शत्रु वृत्र ने नदियों को भी स्वयं गिरते गिरते तोड़ डाला।

यहां तो भूतकालिक अर्थ किया है।

पृ० १७ में, व्याख्या करते हुए लिखते हैं—इन्द्र शत्रु वृत्र, नदियों को तोड़ता है।

यहां वर्तमान काल का अर्थ किया है। प्रसन्नता की बात है कि आपने यहां इन्द्र के प्रसंग में वृत्र को ऐतिहासिक आदमी नहीं मानकर आलंकारिक वर्णन माना है। वृत्र से 'हिम' अर्थ लिया है। इसी कारण आपको भूतकाल का अर्थ छोड़ना पड़ा है। खेद है पं० जी ने इन्द्र प्रकरण में अनेक नामों से इतिहास प्रसिद्ध असुर और राजा लेकर अर्थ कर दिये हैं और इतिहास मान लिया है। उनमें से कुछ का यौगिक अर्थ लेकर स्वयं ही अपने ऐतिहासिक अर्थ को खंडित भी कर दिया है। कई स्थलों पर आग्रहवश यौगिक अर्थ न लेकर ऐतिहासिक व्यक्ति नाम ही माना है। जो हम भविष्य में उन उन ऋषियों के इतिहास-विवेचन में दर्शावेंगे।

४. न्याविध्यदिलीबिशस्य दृळ्हा बिशृङ्गिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः ।;
यावत्तरो मघवन् यावदोजो वज्रेण शत्रुमवधीः पृतन्युम् ॥
ऋ० १।३३।१२ ॥

पंडित जी का किया अर्थ—भूमि पर सोने वाले (वृत्र) के सुदृढ़ (सैन्यों वा किलों का) इन्द्र ने वेध किया। और सींगवाले शोषक वृत्र को और जितना बल था (उतने से तुमने) सेना को साथ रखकर लड़ने वाले शत्रु का वज्र से वध किया। (हिरण्य स्तूप० पृ० २१)

इसी मन्त्र की विशेष व्याख्या में आप लिखते हैं⋯अपनी मातृभूमि पर घर किये शत्रु के सुदृढ़ किलों को तोड़ दो। तीक्ष्ण शस्त्रों से बलवान् बने शत्रु को छिन्न भिन्न करो। जहां तक अपना वेग बढ़ सकेगा और जहां तक अपनी शक्ति बढ़ सकेगी वहां तक यत्न करके अपने शत्रु को अपने ही शस्त्र से विनष्ट करो। (पृ० २२ हिरण्यस्तूप दर्शन)

पंडितजी के किए पूर्व अर्थ और पीछे लिखी विशेष व्याख्या दोनों की तुलना पाठक करें। मन्त्र में आये न्याविध्यत्, अभिनत्, अवधीः तीनों क्रिया पद लोक दृष्टि से भूतकालिक हैं। आपने अर्थ किया है। परन्तु व्याख्या करत समय भूतकाल का अर्थ आपने छोड़ दिया और आज्ञा व अनुशासन या विधि का अर्थ किया। क्यों ? क्योंकि आपको वृत्र, इलीविश, और शृंगी शुष्ण को ऐतिहासिक असुर नहीं मानना था, जैसे सायण ने माना है। इसलिए वहां भूतकालिक अर्थ आपसे आप टूट जाता है। केवल वृत्र को ऐतिहासिक असुर मान लेने मात्र से इन्द्र भी ऐतिहासिक व्यक्ति हो जाता है। फिर उसका वज्र जिसको दधीचि ऋषि की हड्डी से विश्वकर्मा देववर्धकि ने बनाया वह भी एक ऐतिहासिक वस्तु बन जाती है। यदि इलीविशः 'वृत्र' सामान्य शत्रुमात्र है तो इन्द्र राजा सामान्य है, उसका कर्तव्य है कि भूगर्भ में छिपे शत्रु के किले तोड़े, प्रजापोषक शुष्ण, शत्रु को भेद डाले, पूरे बल वेग से सेना से आक्रमण करने वाले शत्रु को अपने शस्त्र से वध कर डाले।

उस दशा में वे सब भूतकाल बतलाने वाले पद, विधि या अनुशासन या कर्तव्यबोधक पद होजाते हैं। ऐसे स्थलों पर ही ऋषि दयानन्द आदि नित्य वेद को मानने वाले भाष्यकार इतिहास वेद में नहीं मानकर अर्थ करते हैं और अपने पक्ष पोषण में लिखा करते हैं—'लिङर्थे लङ्।' अर्थात् यहां लङ् का प्रयोग लिङ् अर्थात् विधि अर्थ में है।

५. नोधा ऋषि के दर्शन में—

वैश्वानरो दस्युमग्निजघन्वान् अधूनोत् काष्ठा अव शम्बरं भेत् ॥

ऋ० १। ५९। ६॥

अर्थ किया है—विश्व नेता 'अग्नि' दस्यु का वध करता है, दिशाओं को हिलाता है और 'शम्बर' का भेदन करता है।

इस स्थल पर 'जघन्वान्' पद हन् धातु से भूतकालिक लिट् के स्थानों में क्वसु प्रत्यय का रूप है। 'अधूनोत्' धून्ञ् कम्पने धातु का भूतकालिक लङ् का रूप है। 'भेत्' भिद् धातु का लङ् का रूप है। लोक दृष्टि से तीनों के अर्थ भूतकालिक न करके वर्तमान कालिक किये हैं। [देखो पृष्ठ १० नोधा ऋषि का दर्शन]

परंतु व्याख्या (में पृ० १२) में आपने 'अधूनोत्' और 'भेत्' दोनों पदों का अर्थ पुनः भूतकालिक कर दिया है। फलतः भूतकालिक क्रिया का अभिप्राय पंडितजी के मत में भी भूतकाल न होकर कर्तव्य परक है।

इस प्रकार—

दिवश्चित् ते बृहतो जातवेदो वैश्वानर प्र रिरिचे महित्वम्।

(ऋ० १।५९।५)

इसमें 'प्र रिरिचे' इस भूतकालिक क्रियापद का का अर्थ 'बड़ी है' इस प्रकार वर्तमान काल का ही किया है। (पृ० १०)

श्री पंडित सातवलेकरजी के किए हिन्दी भाष्यों से ही केवल पांच नमूने पाठकों के सामने रखे हैं। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन रूपों को लोक में भूतकाल का ही माना जाता है वेद में उनका अर्थ भूतकाल का नहीं होता। यह मन्तव्य अनिवार्य रूप से वे भी मानते हैं जो वेद में इतिहासपरक अर्थ करने के भारी पक्षपाती हैं। ऐसी दशा में यदि वे फिर भी इतिहास परक अर्थ करते हैं तो उनका सिवाय आग्रह के और कोई कारण विदित नहीं होता। अब हम ऐतिहासिक पक्ष की उत्पत्ति के आधारभूत दूसरे कारण पर विचार करते हैं अर्थात् ऋषियों, राजाओं, नदियों, पर्वतों, नगरों और जनपदों के ऐसे बहुत से नाम हैं जो एतिहास में प्रसिद्ध हैं और उनकी संगति लगती दिखाई देती है।

द्वितीय श्वास

२. ऐतिहासिक पदा का दूसरा आधार....ऋषियों, राजाओं, नदियों, पर्वतों आदि के नाम। क्या वे ऐतिहासिक नाम हैं?

इस आधार की विवेचना के लिए बहुत धैर्य चाहिए। साधारणतः कोई प्रसिद्ध देवता और कोई प्रसिद्ध ऋषि हो उनके दृष्ट वेद के सूक्तों में ऐसा सूक्त नहीं जहां इस प्रकार के नामों का अभाव हो। भाष्यकारों ने उन नामों से अनेक स्थानों पर ऐतिहासिक व्यक्ति लिया है। सबसे अधिक विचारने योग्य बात यह है कि देवता उन व्यक्तियों के साथ ऐसे उलझा हुआ है कि स्वयं देवता भी एक ऐतिहासिक पुरुष या व्यक्ति बन जाता है। इन्द्र, अग्नि, वरुण, अश्विनी आदि देवता ऋषियों और राजाओं के नाम से ऐसे ही उलझा दिये गये हैं कि उनकी समस्या सरल करना कठिन होता है।

यदि देवतावाचक पद यौगिक निर्वचनों से यास्कीय निरुक्त के अनुसार ऐतिहासिक व्यक्तित्व से पृथक् कर लेते हैं तो फिर ऋषियों और राजाओं के नामों पर ऐतिहासिक बन्धन नहीं रह सकता। इसी प्रकार नदियों, पर्वतों, नगरों और जनपदों के नामों का भी समझना चाहिए।

इस सम्बन्ध में विद्वानों की विवेचनाओं का कुछ दिग्दर्शन कराना आवश्यक है।

१. ऋषि शाकटायन और यास्क (निरु० १ । १२) आचार्य का मत है कि:—

तत्र नामानि आख्यातजानि । संसार में जितने नाम हैं वे सब धातुओं से उत्पन्न होते हैं । परन्तु गार्ग्य और वैयाकरण लोकदृष्टि से सब नामों को आख्यातज अर्थात् धातु से उत्पन्न नहीं मानते हैं। इससे वेद के जितने शब्द हैं उनको रूढि मानकर किन्हीं

व्यक्ति विशेष के नाममात्र मान लेना एक भारी भूल होगी। निरुक्त तो वेद मात्र के लिए है। इसलिए उसका सिद्धान्त वेद क्षेत्र में तो मानना आवश्यक है ही।

भाष्यकार पतञ्जलि ने भी इसका समर्थन किया है:—

नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
यन्न विशेषपदार्थसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्॥

अर्थात्....निरुक्त में नाम पद को धातु से उत्पन्न माना गया है। व्याकरण में शकट के पुत्र श्री शाकटायन मुनि ने भी नाम को धातु से उत्पन्न माना है। जो नाम, विशेष पद, प्रकृति प्रत्यय से उत्पन्न होते न दीखें उनमें भी प्रत्यय से प्रकृति (धातु) की कल्पना और धातु को देखकर प्रत्यय की कल्पना तर्क से कर लेनी चाहिए। इस प्रकार वेद और लोक के शब्दों की साधुता जान लेनी चाहिए।

अब ऐतिहासिक दृष्टि से जिन ऋषियों के नाम वेदमन्त्रों में आते हैं उन पर सामान्य विचार जो विद्वानों ने प्रकट किये हैं उन्हें यहां उद्धृत करते हैं।

देवापि, शन्तनु, आदि नाम

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन् देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान्।
स उत्तरस्माद् अधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद् वर्ष्या अभि॥

ऋ० १०।९८।५॥

इस मंत्र में आर्ष्टिषेण और देवापि का नाम आया है।

जिस सूक्त का यह मंत्र है उसके प्रथम मंत्र में—'स पर्जन्यं शंतनवे वृषाय' शन्तनु का नाम है। दूसरे मंत्र में—'त्वद्देवापे अभि-मामगच्छत्' 'देवापि' का नाम है। तीसरे में बृहस्पति का नाम है। इसी प्रकार छठे में आर्ष्टिषेण का नाम है। ७ वें में 'देवश्रुत' का नाम है। ११ वे में 'औलान' का नाम है।

इस सूक्त का ऋषि 'ऋषिषेण' का पुत्र 'देवापि' नाम ऋषि है। सर्वानुक्रमणी में लिखा है। बृहस्पते द्वादशार्ष्टिणो देवापिर्वृष्टिकामो देवांस्तुष्टाव। अर्थात् बृहस्पते इत्यादि सूक्त के १२ मंत्र हैं। इनसे देवापि ने वृष्टि की इच्छा करके देवों की स्तुति की।

देखने और विचार ने योग्य बात है कि देवापि स्वयं ही तो इस सूक्त के ऋषि हैं। उसी सूक्त में 'देवापि' नाम कई बार आया है। क्या देवापि अपना इतिहास अपने आप लिख रहे हैं। अनुक्रमणी कहती है कि इस सूक्त से देवापि ने देवों की स्तुति की, क्योंकि वह देवों को प्रसन्न करके वर्षा चाहता था। स्पष्ट है कि देवापि के पूर्व यह वेद का सूक्त विद्यमान था। इस सूक्त से देवापि ने वर्षा का यज्ञ नहीं किया। नया सूक्त बनाया नहीं। केवल सूक्त का यज्ञ में उपयोगमात्र लिया, तब पूर्व ही विद्यमान सूक्त में जो देवापि, शन्तनु और ऋष्टिषेण आदि नाम आये हैं उन नामों से देवापि के काल से पूर्व क्या पदार्थ लिया जाता था। देवापि और शन्तनु का काल तो महाभारत का ही काल है। और ऋग्वेदादि की परम्परा जो व्यास के पास आई है वह बहुत पूर्व की है।

देवापि का जो इतिहास यास्क निरुक्त (अ० २।११) में लिखा है वह इस प्रकार है—समुद्र शब्द निघण्टु ने अन्तरिक्ष नामों में पढ़ा है। अन्तरिक्ष वासी 'समुद्र' पृथ्वी पर फैले हुए जलमय समुद्र के वाचक समुद्र से भिन्न है, कहीं कहीं संदेह उत्पन्न हो सकता है कि यहाँ 'समुद्र' शब्द से क्या लिया जाय, अन्तरिक्ष या समुद्र। उन दोनों का विभाग है अर्थात् दोनों प्रयोग पृथक् रहें। उस प्रकरण में—

"तत्रेतिहासमाचक्षते। देवापिश्चार्ष्टिषेणश्शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः स शन्तनुः कनीयान् अभिषेचयाञ्चक्रे। देवापिस्तपः प्रतिपेदे। ततः शन्तनो राज्ये द्वादश वर्षाणि देवो नव वर्ष। तमूचु ब्राह्मणाः।

अधर्मं त्वचरितो ज्येष्ठं भ्रातरमन्तरित्याभिषेचितम्। तस्मात् ते देवो न वर्षति इति। सशन्तनुर्देवापिं शिशिक्ष राज्येन। तमुवाच देवापिः पुरोहितस्तेऽसानि याजयानि च त्वेति। तस्यैतद् वर्षकामसूक्तम्। तस्यैषा भवति।"

उस प्रसंग में विद्वान् इतिहास कहते हैं। आर्ष्टिषेण देवापि और शन्तनु ये दोनों कुरुवंश में दो भाई हुए थे। शन्तनु छोटा था, उसने अपना राज्याभिषेक स्वयं कर लिया था। देवापि तप करने चला गया था। तब शन्तनु के राज्य में १२ वर्ष अनावृष्टि हुई। ब्राह्मणों ने उस राजा से कहा—तैने अधर्म किया है कि ज्येष्ठ भाई को लांघकर अपना अभिषेक करा लिया है। इसलिए तेरे राज्य में वर्षा नहीं होती। वह शन्तनु अपने राज्य सहित देवापि के शरण गया। देवापि ने कहा—मैं तुम्हारा पुरोहित बनकर यज्ञ करा दूंगा। देवापि का यह 'वर्ष काम' सूक्त है। अर्थात् वर्षा चाहने वाले देवापि ने इस सूक्त का प्रयोग किया था।

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन् देवापिर्देव सुमतिं चिकित्वान्।
स उत्तरस्मादधरं समुद्रं पयो दिव्या असृजद् वर्ष्या अभि ॥

ऋ० १०।९८।५।

'आर्ष्टिषेण देवापि ऋषि होत्र कर्म पर बैठता हुआ देश की सुमति जाने। वह उत्तर से अधर समुद्र की ओर दिव्य दृष्टि से जल उत्पन्न करता है।' इस मन्त्र में दोनों समुद्र अर्थात् अन्तरिक्ष और नीचे जल मय समुद्र दोनों को पृथक् बतलाया है।

आर्ष्टिषेण देवापि के सम्बन्ध में यास्क कहता है:—

आर्ष्टिषेणः ऋष्टिषेणस्य पुत्रः। इषितसेनस्य वा।

जो ऋष्टिषेण का पुत्र है या इषितसेन का पुत्र है।

देवापिर्देवानाम् आप्तया स्तुत्या च प्रदानेन च। पुत्रः पुरु त्रायते। जो बहुत रक्षा करे। जो देवों की प्राप्ति करे या स्तुति करे

या उनको हवि दे। इससे स्पष्ट है कि वह कोई इतिहास का व्यक्ति नहीं है। अर्थात् जो भी ऋष्टि की सेना अर्थात् वकार लोप से.... वृष्टि की सेना या समूह को बहुत अधिक रक्षा करने में समर्थ हो और देवापि अर्थात् देवों, जलादि देने वाले मेघों को प्राप्त करके उनसे जलादि देने में कुशल पुरुष 'देवापि' मन्त्र मन्त्रार्थ का तत्वदर्शी विद्वान् जो देवों की शुभ मति अर्थात् ज्ञान जानता हो वह 'होता' अर्थात् यज्ञकर्ता के आसन पर बैठकर उत्तर समुद्र, आकाश से अधर समुद्र, भूमि पर दिव्य वर्षा के जलों को उत्पन्न करने में समर्थ है।

यद् देवापिः शन्तनवे पुरोहितः होत्राय वृतः कृपयन् अदीधेत्।
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत्॥

होत्र कर्म के लिए वृत होकर जब देवापि शन्तनु के लिए पुरोहित होकर कृपा करता हुआ वृष्टि का ध्यान करे तब वृष्टि का विभाग करने वाले देव मेघ के विज्ञान से सम्पन्न विद्वान् को बृहत् विश्व का स्वामी परमेश्वर ही वेदवाणी का प्रदान करता है।

'शन्तनु' के सम्बन्ध में यास्क कहते हैं—'शंतनो अस्तु' विस्तृत जगत् या देहधारियों को शान्ति प्राप्त हो, शान्ति की प्राप्ति ही 'शन्तनु' है।

इन मन्त्रों में आये क्रियापदों का अर्थ हमने वेद व्याकरण के अनुसार भूतकाल में नहीं किया है इस प्रकार ऐतिहासिक नामों की सत्ता समाप्त हो जाती है। प्रतीत ऐसा होता है कि वेद के इस सूक्त में आये देवापि नाम से ही अपनी वृष्टि की सफलता के कारण वह विद्वान् 'देवापि' नाम से प्रसिद्धि प्राप्त कर सका। इसके अतिरिक्त वेदभाष्यकर स्कन्द स्वामी ने (निरुक्त भाष्य अ० २। ख० ११) इस मंत्र सूक्त की भाष्य दिशा दिखाते हुए लिखा है।

नित्य पक्षे ऋग् द्वयस्य अन्यद् अर्थ योजना.......आर्ष्टिषेणो मध्यमं, तत्र भवत्वाच्चार्ष्टिषेणो वैद्युतः। तस्य पार्थिवात्मावस्थितस्य होतृत्वेन देवापित्वम्। एकपदनिरुक्तम्। ऋष्टयः शक्तः तत्प्रधाना-सेना मरुताम्। यस्याः अंसेषु वा ऋष्टयः। तत्र मध्यमानुचराः। इषिता मरुद्रूपा सेना नित्यं येन स ऋष्टिषेणः स एव ऋषिः विद्यो-त्मानः सर्वेण दृश्यते। सर्वान् वा दर्शयति।

यद्देवापिः। मध्यमप्रभवत्वाद् देवापिर्विद्युत्। शन्तनुरुदकं वृष्टिलक्षणं यद् यदा देवापिः वैद्युतः शन्तनवे वृष्टि लक्षणस्योदकस्या-र्थाय पुरोहितः पूर्वं हि विद्योतते पश्चाद् उदकम्।

शन्तनुः। शंतनो अस्तु इति। तन्यते तनुः कृत्सनं जगत् हे तनो शं तुभ्यम्।

यद्देवापिः। यदा देवानामाप्त ऋत्विक् शन्तनवे शं सर्वं शरीरिणाम् अस्तु इत्येवमर्थं वृष्टिप्रधाने कर्मणि प्रवृत्तस्य च यजमानस्यार्थाय विद्वत्तयाऽग्रे वृतः तदा देवश्रुतायेत्यादि.......

एवमाख्यान स्वरूपाणां मन्त्रा यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्तव्या।

.......औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयः परमार्थेन तु नित्य पक्ष इति सिद्धम्।

अभिप्राय यह है कि वेदमंत्रों के नित्य होने के पक्ष में इन दोनों ऋचाओं का अर्थ दूसरी प्रकार से है। ऋष्टिषेण मध्यम अन्तरिक्ष है। उस स्थान में उत्पन्न होनेवाला वैद्युत आर्ष्टिषेण है। वही पार्थिव अग्नि रूप से स्थित होकर अग्नि होता बन जाने के कारण 'देवापि' कहा जाता है।

एक २ पद का निरुक्त इस प्रकार है। ऋष्टि का अर्थ शक्ति है। मरुतों की सेना शक्तिप्रधान है। अथवा जिनके कंधों पर ऋष्टि नाम शस्त्र हैं, वे वीर भक्त ऋष्टि हैं। वे भी मध्यम लोक

देवता के अनुगामी हैं। जो इस प्रकार की मरुतों की सेना को नित्य संचालित करता है, या नित्य चाहता है वही ऋष्टिषेण है, वही ऋषि है। वही सर्वत्र चमकता हुआ सब को दीखता है। या अपने प्रकाश से सबको दिखाता है। वही अन्तरिक्ष लोक का पालक होने से सब कर्मों का द्रष्टा है।

देवापि पर विचार कीजिए। मध्यम स्थान में होने से देवापि विद्युत् है। शन्तनु जल है जो वृष्टि रूप से बरसता है। जब विद्युत् मय देवापि वृष्टि के जलरूप शन्तनु का पुरोहित होता है अर्थात् पहले चमकता है, तब पीछे जल उत्पन्न होता है। पुरोहित भी प्रत्येक 'देवापि' है वह स्तुति और आहुति देने से देवों को प्राप्त होता है।

इसी प्रकार 'शन्तनु' पर विचार कीजिए। विस्तृत होने से तनु समस्त जगत् है, इस जगत के लिए शान्तिदायक कल्याण-कारक वृष्टि जल ही 'शन्तनु' है।

इस प्रकार आख्यान रूप से दीखने वाले मंत्रों की योजना भी प्रत्यक्ष यजमान आदि में या नित्य पदार्थों में योजना कर लेनी चाहिए। आख्यान का रूप तो औपचारिक अर्थात् गौण है।

इस प्रकार शन्तनु राजा और ऋष्टिषेण के पुत्र 'देवापि' आदि ऋषि नामों का स्पष्टीकरण हो जाता है, और वेद में आये ये शब्द ऐतिहासिक ऋषियों के नाम नहीं रहते। इसी प्रकार अन्य भी ऋषि नामों की संगति वेद और वेद के व्याख्या ग्रंथों में लगाई गई है।

अङ्गिरा ऋषि

अब 'अङ्गिरा' ऋषि पर विचार करते हैं। वेद में 'अंगिरः' अंगिरा: ऐसे एक वचन के प्रयोग भी हैं, संबोधन भी हैं, अंगिरसः, अंगिरसाम्, अंगिरोभ्यः, अंगिरोभिः, ऐसे बहुवचनी प्रयोग भी हैं। अंगिरस्तमः, अंगिरस्तमा, अंगिरस्वान्, अंगिरस्वन्तो आदि तद्धित

प्रत्ययान्त भी प्रयोग हैं। इन स्थलों पर क्या ऐतिहासिक 'अंगिरा' ऋषि कोई वेद में गृहीत है। इस पर विचार करना है।

सबसे पहला प्रयोग ऋग्वेद में (१।१।६) मंत्र में है।

यदंग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः ॥

(ऋ० १।१।६)

यहाँ अग्नि को सम्बोधन पद से कहा है। सायण ने लिखा है, हे अंगिरः अग्ने! अर्थात् अंगिरस अग्नि का दूसरा नाम है। अग्नि किस रूप में अंगिरा है। इस पर सायण ने यास्क निरुक्त उद्धृत किया है, अंगिराः, अंगाराः। (निरु० ३।१७) इसी स्थल पर ऐतेरेय ब्राह्मण उठाकर रखा है—"ये अंगाराः आसंस्तेऽगिरसो भवन्।" (ऐ० ब्रा० ३।३४)

इतने से स्पष्ट है कि अग्नि जो जलते अंगार रूप में है वह अंगिरस् है। अंगारे ही अङ्गिरा हैं। परन्तु सायण को इतिहास का मोह है। अतः लिखता है........

अंगिरोनामकमुनिकारणत्वात् अंगाररूपस्याग्नेरंगिरस्त्वम् अंगिरस नामक मुनि को अंगारों ने बनाया इसलिए अंगाररूप अग्नि 'अङ्गिरस' है। कैसी उलटी बात लिखी है। अंगार रूप अग्नि नित्य हैं, सर्वत्र है, प्रत्यक्ष है उसका उपयोग करने, ज्ञान करने से या उसके समान तेजस्वी होने से, ऋषि का नाम अंगिरा होना संभव है और उचित भी है। परन्तु सायण ने उसका उलटा कर के लिख दिया है।

ऊपर सायणोद्धृत निरुक्त पाठ वस्तुतः इस प्रकार है। अंगारेष्वंगिराः। अंगाराः अंकनाः अंचनाः।

अंगारों में जो, वह 'अंगिरा' है। अंगार इसलिए कहे जाते हैं कि वे अंकन हैं, अर्थात् वे जिससे छूते हैं उस पर कालस देते हैं, अथवा अंचन हैं, अर्थात् ताप को पकड़ लेते हैं। स्कन्दस्वामी ने

इसका पाठ 'अङ्गना:' माना है इसका अर्थ है कि अंगारों में आग बुझसी जाती है इसलिए वे अंगार हैं।

वेद ने तो स्पष्ट अग्नि के सम्बोधन मात्र में 'अंगिर:' शब्द प्रयुक्त किया है, परन्तु निरुक्त के टीकाकारों ने 'अंगिरस्' शब्द पर विचार करते हुए एक अलौकिक असम्बद्ध निराधार बात को ही मान लिया है कि—

व्यपगतेऽर्चिषि यः अङ्गारेषु सम्बभूव स अङ्गिरा नाम अभवत्। ज्वाला हो जाने पर जो अंगारों में उत्पन्न हुआ, वह 'अंगिरा' नाम से हुआ। प्रश्न है—कौन हुआ ? ऋषि हुआ या अग्नि हुआ ? यदि ऋषि हुआ तो ठण्डे कोयले में पैदा होने से ऋषि को 'अंगिरा' कहना यह असंगत बात है। कोयले में मनुष्य या ऋषि पैदा नहीं होते यह सृष्टिक्रम के विपरीत है। 'अग्नि' हुआ तो ठीक है। लकड़ी की ज्वाला या लपट देकर जल चुकने के बाद जो अंगारों में अग्नि विधूम, बिना लम्बी लपट के जलता है वह 'अंगिरा' है। यह तो अग्नि का विशेष रूप है, ठीक है। इससे प्रदीप्त अङ्गार ही अग्नि है यह ठीक जंचता है। यह आधिभौतिक अर्थ है। परमेश्वर अग्नि है तो वह 'अङ्गिरा:' भी है। वह इसलिए है कि अङ्गति व्याप्नोतीत्यंगिराः। जो व्यापक है वह 'अङ्गिरा' है। परमेश्वर सर्वव्यापक है।

इस सम्बन्ध में सायण के अर्थों पर ही दृष्टिपात करते हैं—

(१) (ऋ० १। ३१। १७) में 'मनुष्वदग्ने अंगिरस्वदङ्गिरः।'

इस मन्त्र में भी 'अंगिर:' अग्नि का सम्बोधन है। यहाँ भी 'अंगिर:' अंगनशील। अगि गतौ। अर्थात् व्यापनशील अर्थ किया है।

'अंगिरस्वत् यथा च अंगिराः गच्छति।' जिस प्रकार अंगिरा

जाता है। अंगिरा अर्थात् व्यापनशील विद्युत् आदि पदार्थ पूर्ववत् दीप्तियुक्त पदार्थ लिया जा सकता है।

(२) तमित् सुहव्यमङ्गिरः सुदेवं सहसो यहो ।
जना आहुः सुबर्हिषम् ॥ ऋ० १।८४।५॥

यहां भी अग्नि का सम्बोधन 'अंगिरः' है। सायण अर्थ लिखते हैं अंगनादि गुणयुक्त अग्ने! व्यापन आदि गुणों से युक्त अग्ने!

ऋषि दयानन्द लिखते हैं—(अंगिरः) पृथिव्यादीनां ब्रह्माण्डस्यांगानां प्राणरूपेण रसरूपो अंगिराः। तत्संबुद्धौ। प्राणो वा आंगराः श ६।३।३।७॥ देहे अंगिरेषु अंगिराः। अंगारा अंकना अंचनाः। निरु० ३। १७। अत्राप्युक्तमङ्गानां मध्ये अन्तर्यामी प्राणाख्योऽर्थो गृह्यते। (ऋ० १।१।६। का भाष्य)

पृथिवी आदि ब्राह्माण्ड के अनेक अंगों में प्राणरूप सोमरस रूप 'अंगिरा' है। निरुक्त में भी देह में अंगों के बीच में अन्तर्यामी प्राण ही अथ लिया जाता है।

इसी प्रकार ऋ० १।३१।१७। के भाष्य में—(अंगिरः) पृथिव्यादीनामङ्गानां प्राणवद्धारकः। (अंगिरस्वत्) यथा शरीरे प्राणा गच्छन्ति आगच्छन्ति तद्वत्।

पृथिवी आदि अंगों को प्राण के समान धारण करने वाला 'अंगिराः' (अंगिरस्वत्) शरीर में आने जाने वाले प्राणों के समान है।

(३) याभिरङ्गिरो मनसा निरण्यथः ऋ० १।११२।१८॥

इस स्थान पर सायण लिखते हैं—अंगिरः अंगिरसां गोत्रजत्वमश्विनौ स्तुहि। हे अंगिरों के गोत्र में उत्पन्न तू अश्विनों की स्तुति कर यह वाक्य जोड़कर वाक्य पूरा किया। अंगिराः का अर्थ अंगिरसों के गोत्र में उत्पन्न माना है। सायण ने लिखा है—

अंगिरः इत्यतदामन्त्रितं वाक्यात् बहिर्भूतम् तेन चात्मानं संबोध्य स्तुतावृषिः प्रेरयति ।

अर्थात् 'अंगिरः' पद सम्बोधन है, वेद वाक्य में इसकी योजना नहीं है, इससे ऋषि अंगिरा स्वयं अपने को ही संबोधन करके अश्वियों की स्तुति करने में अपने को प्रेरित करता है ।

इस स्थल पर ऋषि का लेख है....(अंगिरः) अंगति जानाति यो विद्वांस्तत् संबुद्धौ । जो ज्ञानवान् पुरुष है वही 'अंगिरा' है, उसका संबोधन है । हे विद्वन् ! तू मन से विद्या और धर्म का सब को बोध करा ।

वस्तुतः सायण के अर्थ के लिए कोई आधार नहीं है, क्योंकि मं० १ । ११२ वां सूक्त का ऋषि 'अंगिरा' है इसलिए सायण ने ऐसी कल्पना की है । पूर्व लिखे दो मंत्रों में सायण को 'अंगिरस्' गोत्री ऋषि का विचार भी नहीं आया ।

(४) यदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वयः इद्धाग्नय शम्या ये सुकृत्यया ।

ऋ० १ । ८४ । ४ ॥

सायण अर्थ करता है.......जब पणियों ने गौंए हरलीं, तब अंगिराः अर्थात् अंगिरस लोंगो ने (वयः दधिरे) हविरूप अन्न इंद्र के लिये संपादन किया । और उन नेताओं ने पणि नाम असुर का अश्वों, गायों सहित सब भोजन व पशु प्राप्त कर लिया ।

इस मंत्र का ऋषि गोतम है ।

इस मंत्र में 'अंगिराः' एक वचन को सायण ने बहुवचन बना-लिया । 'जस्' के स्थान में 'सु' आदेश मान लिया है । और पणि असुर के भोजन, गौ, अश्व आदि पशु हर लेने का इतिहासपरक अर्थ कर दिया ।

ऋषि दयानन्द ने अगिराः को बहुवचन भी माना और श्लेष से

उपमान मान कर एक वचन भी माना। जिस प्रकार (अंगिराः) प्राणवत् प्रिय वत्स माता पशु को प्राप्त करता है, वैसे विद्वान् लोग अश्वों, गोओं से संपन्न प्रजा के व्यापार के रक्षण करने वाला राज्य पाकर आनन्दित होते हैं, प्रथम वयस् में ब्रह्मचर्य पालन करते हैं।

(५) यद्ध त्यामङ्गिरोभ्यो धेनुं देवा अदत्तन। वि तां दुहे अर्यमा कर्तरि।
(ऋ० १। १३९। ७॥)

इस मंत्र पर सायण ने इतिहास लिखा है....अंगिरस नाम के महर्षियों ने पहले यज्ञ के लिए देवों की स्तुति करके गौएं मांगी थीं। उन्होंने प्रसन्न होकर कामधेनु गौ दी। पाकर भी वे उसको दुह न सके। उन्होंने अर्यमा की प्रार्थना की। अर्यमा ने उस गाय को दुहा।

यहां भी अंगिरस् लोग, कामधेनु, अर्यमा इत्यादि की कथा मानली है। तो क्या अंगिरस् लोग इतने मूर्ख थे कि कामधेनु को दुह न सके। यदि यह अलंकार है तो कथा व इतिहास की सत्ता स्वतः नष्ट हो जाती है। यहां वेद के अक्षरों से ही स्पष्ट है कि देव विद्वान्गण अपने प्राण प्रिय शिष्यों को ज्ञान प्रदान करें। और अर्यमा न्याय का ही राजा इस विद्या का जो प्रजा के बीच में शिष्यों को दी जाती है, उसका ठीक उपयोग करे। यदि शिक्षणालय प्रजा को शिक्षित तो करें और राजव्यवस्था उनका उपयोग न करे, तो प्रजा में विद्या को प्रोत्साहन न हो और राज्य सत्ता मूर्खों के हाथ में रहे, और शिक्षित प्रजा भूखी मरने लगे।

इसी प्रकार अंगिरा के लगभग ८० स्थल हैं। जिनमें एक वचनान्त 'अंगिरस' शब्द का प्रायः प्रयोग अग्नि के विशेषण रूप से आया है। वह निश्चय ही कहीं पर भी ऐतिहासिक 'अंगिरा' ऋषि होना संभव नहीं है, और भाष्यकारों ने भी नहीं माना है।

लगभग ४० स्थानों पर बहुवचनान्त 'अंगिरसः' ऋषि ही लिया है। पर वे कौन से ऋषि थे इनका कहीं पता नहीं चलता है।

जिन ऋषियों का देवताओं के साथ इतिहास कहा मिलता है वहां यदि देवतावाचक पद अलंकार से ऐतिहासिक व्यक्ति न होकर निश्चय से सूर्य, मेघ, वायु या परमेश्वर या अग्नि आदि दिव्य पदार्थ हैं तो उस कथा में निश्चय ही अंगिरा आदि ऋषि नाम भी अलंकार से कोई भिन्न पदार्थ होने चाहिये। वह ऐतिहासिक पदार्थ नहीं है। महाभारत वनपर्व (अ० २१६-२१९) में अंगिरसों के गोत्रजों का वर्णन किया है। वे सब अग्नि हो गये हैं। उनके लक्षण भी वहां ही दर्शा दिये हैं, संसार में आग्नेय तत्वों का विशद् विवेचन महाभारत ने बहुत सुन्दर रीति से किया है। प्राचीन विज्ञान लुप्त हो जाने से इन सैकड़ों अग्नियों का तात्विक रहस्य स्पष्ट जाना नहीं जा सकता। परन्तु प्रकरण से स्पष्ट है कि इन अग्नियों की रहस्य विद्या जानने के कारण ही विद्वान लोग अंगिरस् कहाते थे। अथर्व और अङ्गिरसी विद्याएं ही शत्रुनाश और प्रजारक्षण के लिए उपयोगी थीं। यदि उन सैकड़ों अग्नियों को लक्ष्य रखकर ऋग्वेद और अथर्ववेद में आये अङ्गिरस् एक वचनान्त और बहुवचनान्त पदों का विवेचन किया जाय तो वैदिक विज्ञान का रहस्य प्रकट होते ही इन ऐतिहासिक अंगिरस् नामों की स्थापना निर्मूल हो जाती है।

यह बात नहीं कि सायण 'अंगिरस्' शब्द का मूल अर्थ नहीं जानता था, या उसको वेदार्थ रूप में स्वीकार नहीं करता था। अग्नि और उषा को अनेक स्थानों में, इन्द्र को भी अनेक स्थानों में अंगिरस्तम, अगिरस्तमा आदि विशेषणों से वेद ने कहा है। सायण ने एक स्थान पर भी उन दोनों को अंगिरस् गोत्र का मानने का हठ नहीं किया है। सर्वत्र उनका यौगिक अर्थ लिया है। जैसा (७।९५।१॥) में लिखा है—

अंगिरस्तमा पथ्या अजीगः । (७ । ९५ । १ ॥)

अंगेर्गत्यर्थादङ्गिराः । गन्तृतमा ।

गत्यर्थक अंग धातु से (अंगिराः) बनता है, उषा सर्वश्रेष्ठ व्यापनशील है।

विचारने की बात है कि नामवाचक शब्दों में न तो बहुवचन लगता है, न अतिशय अर्थ में 'तमप्' प्रत्यय लगता है। परन्तु वेद में अंगिरस् वसिष्ठ आदि शब्द बहुवचन में भी है, 'इष्ठन्, तमप्' प्रत्ययान्त भी है, फलतः ये गुणवाचक ही शब्द हैं, इस कारण इन शब्दों से 'तमप्' प्रत्यय लगता है। लोक भाषा में भी यदि व्यक्ति नाम से 'तमप्' वा बहुवचन लगते हैं तो इससे किसी व्यक्ति के नाम का ग्रहण न होकर गुणवाचक अर्थ का ही ग्रहण होता है। इसी से भाष्यकारों ने यहां केवल धात्वर्थ से संतोष किया है।

'अंगिरसः' बहुवचन के स्थल में भी सायण ने (ऋ० १।१००।४) में लिखा है—अंगन्ति गच्छन्ति इति अंगिरसो गन्तारः । तेभ्योऽपि अंगिरस्तमः अतिशयेन गन्ता भवति ।

यह इन्द्र का विशेषण दिया है। विज्ञान की दृष्टि से गतिशील पदार्थों में सबसे अधिक तीव्रगति से जानेवाला विद्युत् सूर्य का प्रकाश व ताप हैं जो एक सैकन्ड में १८६००० मील जाते हैं। वे ही 'इन्द्र' पद से कहे गये हैं। इस प्रकार सायण का ही भाष्य-लेख वैज्ञानिक सत्य पर सुन्दर प्रकाश डालता है। खेद है कि सायण ने इन सत्य विज्ञान-सिद्धान्त की दृष्टि से अपने अज्ञानवश अपनी लेखनी को वंचित रखा। नहीं तो वेद का भाष्य कुछ और ही होता।

प्रसंगवश वे अंगिरस् कौन तत्त्व हैं हम महाभारत की दिखायी दिशा से कुछ अंश यहां दिखाते हैं।

माहभारत प्रदर्शित दिशा

युधिष्ठिर ने प्रश्न किया है—

अग्निर्यदात्वेक एव बहुत्वं चास्य कर्मसु ।
दृश्यते भगवन् सर्वमेतदिच्छामि वेदितुम् ॥

अग्नि तो एक ही है, कर्मों के आधार पर उसके अनेक रूप दीखते हैं । यह जानना चाहता हूँ ।

इस प्रश्न का मार्कण्डेय ने उत्तर दिया है ।

"पहले अंगिरा ने बड़ा तप किया । अग्नि की परिचर्या की । वह भी अग्नि के तुल्य होकर सब जगत् को प्रकाशित करने लगा । अग्नि का तेज भी उसके समक्ष फीका पड़ गया । अग्नि ने सोचा कि विधाता ने यह दूसरा अग्नि उत्पन्न किया है । मेरा 'अग्नि' पद लुप्त हो गया । मैं फिर अग्नि कैसे बनूं । वह संकोचवश अंगिरा के पास आया । अपना दुःख कहा । अंगिरा बोले—आप फिर अग्नि हो जाइए । ब्रह्मा ने प्रथम अन्धकार नाश के लिए आपको ही अग्नि बनाया था ।

अग्नि बोला—नहीं नहीं, मेरी तो कीर्ति जाती रही, अब आपको ही अग्नि जानेंगे, आप प्रथम अग्नि बनें, मैं दूसरा अग्नि बनूंगा । मेरा नाम 'प्राजापत्यक' होगा । अंगिरा ने कहा—आप अन्धकारनाशक प्रथम अग्नि प्रजाओं को स्वर्ग देने के लिए रहें, मुझे आप अपना प्रथम पुत्र बनालें । अंगिरा की बात अग्नि ने मानली । अग्नि ने 'अंगिरा' को प्रथम पुत्र बना लिया । अंगिरा का पुत्र 'बृहस्पति' हुआ ।

ब्रह्मा के तीसरे पुत्र अंगिरा थे, उनकी स्त्री 'सुभा' थी । उसके बृहस्पति आदि सात पुत्र और एक कन्या भानुमती थी । यह अंगिरस की प्रथम कन्या थी । रूप में अप्रतिम होने से वह 'भानुमती' थी दूसरी कन्या 'रागा' थी सब प्राणियों का उसमें राग (प्रेम)

था इससे वह 'रागा' थी। तीसरी पुत्री 'सिनीवाली' इसी प्रकार अर्चिष्मती, हविष्मती, महिष्मती, और महामती सातवीं थी।

बृहस्पति की स्त्री चान्द्रमसी रोहिणी थी। उसने अग्नियों को जन्म दिया। यज्ञों की आहुतियों में सब से पहले जिसको हवि दी जाती है। वह 'बृहस्पति' का पुत्र शंयु है। चातुर्मास्य अश्वमेध इष्टि में जो अग्नि प्रज्ज्वलित होता है वही एक वीर्यवान् अग्नि है। उसी को 'शंयु' कहते हैं।

शंयु की स्त्री 'सत्यासत्या' थी। उसका भी पुत्र 'अग्नि' था। यज्ञ में प्रथम आज्य भाग से जिस अग्नि की पूजा होती है, उसके पहले पुत्र का नाम 'भरद्वाज' है।

पौर्णमास यज्ञ में जो हवि पाता है वह अग्नि 'भरत' है वह शंयु का द्वितीय पुत्र है। और पुत्री 'भरती' थी।

भरत का पुत्र 'पाक' है। भारद्वाज की स्त्री का नाम 'वीरा' था उसका प्रथम पुत्र 'वीर' नाम अग्नि है। ब्राह्मण लोग चुपचाप चन्द्रमा के समान जान कर घृताहुति देते हैं। इसी वीर नामक अग्नि के और नाम भी हैं जैसे रथ, प्रभु, रस और कुम्भरेता है।

वीर की स्त्री का नाम 'शरयु' था। उसका पुत्र 'सिद्धि' हुआ। उसने अपने तेज से सूर्य को छिपा लिया था। वह अग्नि के कार्य करता है, आह्वान (पुकार) के समय उसकी स्तुति की जाती है, जो अग्नि यश, तेज और लक्ष्मी से सदा सम्पन्न रहता है। वह 'निश्च्यवन' अग्नि कहाता है, वह सदा पृथ्वी ही की स्तुति करता है।

'विपाप' नाम का अग्नि उसका पुत्र है, वह सदा सत्य समयानुसार धर्म (मर्यादाओं) का निर्माण करता है।

'निष्कृति' नाम का अग्नि दुःख से रोते चीखते लोगों के दुःखों का निवारण करता है, सेवन करने से वह सुशोभित करता है।

वेदना से पीड़ित आदमी आप से आप जिस अग्नि के द्वारा दुख वेदना के स्वर रोया गाया करता है, उसका नाम 'स्वप्न' है वह उस अग्नि का पुत्र है। वह रोग उत्पन्न किया करता है।

जो समस्त जगत् की बुद्धि को अपने वश में करता है, आध्यात्मतत्त्वज्ञ उस अग्नि को 'विश्वजित्' नाम अग्नि कहते हैं।

जो देह के भीतर भी अग्नि देहियों के खाये हुए भोजन का परिपाक करता है, उस 'अन्तराग्नि' को समस्त लोकों में विद्यमान होने से 'विश्वभुक्' नाम कहते हैं। ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, यती जन उनकी पाकयज्ञों से पूजन करते हैं। इसकी प्रिय स्त्री 'गोमती' है। धर्म कर्ता लोग उस अग्नि में अपने इष्ट यज्ञ करते हैं।

पवित्र गोमती नाम नदी जिसकी प्रिय है धर्म कर्ता लोग उस अग्नि में सब कर्म करते हैं।

'वाडवाग्नि' परम घोर होकर समुद्र का जल पान करती है,

'प्राण' नामक अग्नि ऊपर को गति करती है, इसलिए उसका नाम 'ऊर्ध्वभाग' है।

गृहों में जिस अग्नि के नाम पर उत्तर दिशा में आहुति दी जाती है और आज्य (घृत) स्विष्ट (उत्तम रीति में आहुति) देकर उत्तम फल देता है वह 'स्विष्टकृत्' अग्नि है।

जो अग्नि शान्त प्राणियों में क्रोध या मृत्यु रूप होकर रहता है। और क्रुद्ध पुरुष में रस अर्थात् बल या तेज रूप से उत्पन्न होता है, उसको तो मैं अग्नि की कन्या मानता हूँ। क्योंकि वह केवल कान्ति और वासना मात्र है, उसका नाम 'स्वाहा' है वह भयंकर अग्नि पुत्री क्रूर रूप से सब प्राणियों या ज्वाला में रहती है।

तीनों लोकों में जिसके सदृश रूप में नहीं अतुल होने से वह अग्नि 'काम' कहा गया है।

जो अग्नि खूब प्रसन्नता से क्रोध को धारण करके धनुष हाथ में लेकर माला पहन कर रथ पर बैठ कर युद्ध में शत्रुओं का नाश करता है वह 'अमोघ' नामक अग्नि है।

तीन उक्थों से जिसकी स्तुति की जाति है, जिसने महावाक (वेदत्रयी) को उत्पन्न किया है हे महाभाग वह अग्नि 'उक्थ' है उसका दूसरा नाम 'समाश्वास' है।

(महाभारत वनपर्व अ० २१६-२१९)

इस प्रकार तीन अध्यायों में अंगिरा और अग्नि के कुल का विवरण किया गया है। इसके अगले तीन अध्यायों में अग्नि के अनेक कुल पुत्रों का वर्णन है। विस्तार भय से हम उल्लेख नहीं करते। यह स्वयं एक पृथक् अनुसंधान का क्षेत्र है। पाठक थोड़ा सूक्ष्म दृष्टि से देखें कथा की बात है और वेद में बतलाए गये अग्नियों से सब प्रकार बतला दिये हैं जिनमें सूर्य, वायु, विद्युत्, तेजस्वी, मनस्वी अल्पज्ञ, बुद्धिमान्, प्रेमवान्, पुरुष सब अग्नि हैं। इस प्रकार प्रभा, अनुराग, सूक्ष्मता, ज्योति, अन्न ग्रहण करने वाली सुधा, मति अग्नि अंशों को भी अग्नि कन्याएं कहा जाता है।

भरत, भरद्वाज, वीर, रथ, कुम्भ, वीर्य, निश्च्यवन, सत्य, विपाश, निष्कृति (प्रायश्चित्त) स्वन, विश्वजित् विश्वभुक्, वाडव, स्विष्टकृत्, क्रोध, काम, अमोघ, उक्थ आदि ये सब अग्नि ही कहे गये हैं, या आप क्षण भर के लिए भी यह कल्पना कर सकते हैं कि ये सब लक्षण महाभारत में जो कहे वे देहधारी ऐतिहासिक अङ्गिरा गोत्र के उत्पन्न अंगिरसों के हैं। महाभारत में इसको आंगिरस कुल कहा है। महाभारत के इस उपाख्यान ने वेद मन्त्रों पर विचार करने का सर्वथा नया क्षेत्र खोल दिया है कि वेद में वर्जित अग्नियों और आंगिरसः अंगिरस्तम, आदि नामों से वर्णित तत्वों का उक्त दृष्टि से विचार किया जाय।

यह संभव है कि वेद साहित्य के अग्नि के इन नाना प्रकार के स्वरूपों के अनेक नाम आंगिरस गोत्र में विद्वानों के भी रख लिये गये हों। इससे वेद के मन्त्रों में आये अंगिरा, अंगिरस् आदि नाम को तुरन्त ऐतिहासिक कथा में घसीट लेजाना बहुत अनुचित है। सायण को भी यह बात पदे पदे खटकती थी। इसी से वह स्थान स्थान पर 'यद्वा' कह कर इसका यौगिक अर्थ कभी पहले कभी पीछे देता रहा है, इसी प्रकार दशग्व, नवग्व आदि शब्दों के भी अनेक अर्थ सायण ने स्थान स्थान पर किये हैं। परन्तु इतिहास का मोह सायण न छोड़ सके।

प्रसंग से यही बात हमें इतिहास प्रसिद्ध अन्य ऋषियों के नामों के सम्बन्ध में भी जाननी चाहिए। वसिष्ठ, गोतम आदि अनेक नाम एक वचन और बहुवचन में प्रयुक्त हुए हैं, उनको भी गोत्र वा कुलवाची मानना भूल है। जिनका दिग्दर्शन यथास्थान कराया जाना ही उचित है।

पाठकों की उत्सुकता के शमन के लिए अधिक विस्तार में न जाकर और पूर्व दो एक ऋषियों के सम्बन्ध में जो विस्तार से कहा है उसको ही दृष्टान्त रूप से पर्याप्त जानकर संक्षेप में अन्य ऋषि नामों के सम्बन्ध में इतना दिग्दर्शन कराते हैं कि वे नाम वैदिक साहित्य में किस अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, और उनका वेदमन्त्रों के विचार करते समय प्रकरणानुसार उन ही अर्थों का लेना आवश्यक है।

ऋषि वसिष्ठ, भरद्वाज, जमदग्नि, विश्वामित्र, विश्वकर्मा

यजुर्वेद १३।५५ में ऋषि भरद्वाज का नाम आता है। मन्त्र ५४ में वशिष्ठ ऋषि का नाम है। मन्त्र ५६ में जमदग्नि ऋषि का नाम है। ५७ में विश्वामित्र ऋषि का नाम है। मंत्र ५८ में विश्वकर्मा ऋषि का नाम है।

जैसा भाष्यकारों ने केवल अंगिरा, वशिष्ठ भरद्वाज आदि नाम आने पर उनकी व्याख्या में लिख दिया है—एतद् नाम ऋषिः और वहाँ इतिहासपरक अर्थ मान लिया जाता है। ठीक इसी प्रकार यजुर्वेद के १३ वें अध्याय के ५४ से ५८ मन्त्रों में इन नामों के साथ ऋषि शब्द का भी प्रयोग किया गया है। परन्तु विस्मय की बात यह है कि वेदों की सर्वमान्य, सर्वश्रेष्ठ व्याख्या करने वाले ब्राह्मण ग्रन्थ शतपथ में वसिष्ठ याज्ञवल्क्य ने इन नामों को किसी व्यक्ति का नाम नहीं माना है। प्रत्युत लिखा है—

१. प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः। यद् वै नु श्रेष्ठ स्तेन वसिष्ठः अथ यद् वस्तृतमो वसति तेनो एव वसिष्ठः।

२. मनो वै भरद्वाज ऋषिः। अन्नं वाजः। यो वै मनो बिभर्ति सो अन्नं वाजं भरति। तस्मात् मनो भरद्वाज ऋषिः (शत० ८।१।२।९)

३. चक्षुर्वै जमदग्नि ऋषिः। यदनेन जगत् पश्यति, अथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः।

४. श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिः। यदनेन सर्वतः शृणोति अथो यदस्मै सर्वतोमित्रं भवति तस्माच्छ्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिः। (शत० ८।१।२।६)

५. वाग् वै विश्वकर्मा ऋषिः। वाचा हि इदं सर्वं कृतं। तस्माद् वाग् विश्वकर्मा ऋषिः। (देखो शत० ८।१।१।६॥)

अर्थात् (१) प्राण वसिष्ठ है क्योंकि वह वसु प्राणों में से मुख्य प्राण सबसे श्रेष्ठ है। बसने वालों में सबसे श्रेष्ठ को ही 'वसिष्ठ' कहते हैं। (२) मन भरद्वाज ऋषि है। वह वाज अर्थात् अन्न को पाकर पुष्ट होता है। इसके आधार में उपनिषद् का सिद्धान्त है हि सौम्यं मनः' मन अन्न से बनता है और प्राण जलों से बनता है। इसलिए मन 'भरद्वाज' है। (३) चक्षु जमदग्नि है, वह जगत् को देखता है। तब वह मनन करता है और तेजोमय है।

(४) श्रोत्र इन्द्रिय विश्वामित्र है। सब दिशाएं उसके मित्र हैं। उसको सब दिशाओं से सुनाई देता है। सब दिशाओं में उसकी गति है। (५) वाग् विश्वकर्मा है। वाणी से सब का प्रकाशन किया जाता है।

इसके अतिरिक्त अन्य ब्राह्मणों में भी और उक्त ब्राह्मणों के भिन्न भिन्न स्थलों में भी ऋषियों के नामों की विवेचना की है। जैसे-

१. एष. (प्रजापति) वै वसिष्ठः श० २।४।४।२।। अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः। ऐ० ब्रा० १।२८।। वाग् वै वसिष्ठा। श० १४।९।२।२।।

२. प्रजापतिर्वै जमदग्निः। श० १३।२।२।१४।।

३. वाग् वै विश्वामित्रः। कौषी० १०।५।। (१५।९), (२९।९)।

४. विश्वं वै तेषां कर्म कृतं सर्वंजितं भवति ये संवत्सरमासते। श० ४।६।४।५।। प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा श० ७।४।२।५।। संवत्सरो विश्वकर्मा ऐत० ४।२२।। असौ वै विश्वकर्मा योऽसौ (सूर्यः) तपति। कौ० ५।५।। (गो० १।२३।।) इन्द्रः विश्वकर्मा भूत्वा अभ्यजयत्। तै० १।२।३।३।। इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा विश्वकर्माऽभवत्। प्रजापतिः प्रजाः सृज्वा विश्वकर्मा अभवत्। ऐ० ४।२२।। विश्वकर्माऽयमग्निः। श० ९।२।२।२।। अयं (वायुः) विश्वकर्मा यो यं पवते। एष हीदं सर्वं करोति। श० ८।१।१।७।।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि वसिष्ठ से प्रजापति, परमेश्वर, राजा और गृहपति, अग्नि भी लिये जाते हैं। जमदग्नि भी प्रजापति परमेश्वर, राजा और गृहपति का नाम है। विश्वामित्र वाणी है। समस्त कर्मों पर विजय पाने वाला 'विश्वकर्मा' है। प्रजापति, परमेश्वर, राजा, गृहपति, विश्वकर्मा है। इन्द्र वृत्र का वध करके 'विश्वकर्मा' बना। यह अग्नि 'विश्वकर्मा' है। यह वायु 'विश्वकर्मा' है। यही सब को उत्पन्न करता है।

सब ब्राह्मणकार विद्वान् इन वेदान्तर्गत नामों से इतने भिन्न

भिन्न अर्थ ग्रहण करते हैं तब अर्वाचीनों का इन नामों से ऐतिहासिक व्यक्तियों का लेना वैदिक साहित्य को सर्वथा न समझना ही है।

वेद के अध्ययन करने वालों को एक बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि वेद ऋषियों के दर्शन हैं, जिनको उन्होंने अन्तःसाक्षात् किया है। इसी कारण निरुक्त ने वेद के मन्त्रों का आध्यात्मक अर्थ करने पर बल दिया है।

वेद में ब्रह्मविद्या, अध्यात्मविद्या का दर्शन सर्वत्र विद्यमान् है। वास्तव में वही प्रथम और मुख्य दर्शन हैं। शेष पक्षों के अर्थ गौण हैं। इस दृष्टि से प्राचीन ऋषियों ने ऋषियों के नामों का जो विचार किया है वह अवश्य अध्यात्मपरक ही मुख्य है। इसका एक प्रमाण यहाँ और उद्धृत करते हैं।

वाजसनेय ब्राह्मण उपनिषद् (बृहदारण्यक) में एक मन्त्र उद्धृत है।

अर्वाग्-बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं बिश्वरूपम्।
तस्याऽसत ऋषयः सप्त तीरे वाग् अष्टमी ब्रह्मणा संविदाना ॥
(अ० २। ब्रा० २। क० ३)

एक पात्र है जिसका मुख नीचे और पैंदा ऊपर है। उसमें विश्वरूप यश (अन्न) रखा है उसके तीर पर सात ऋषि विराजते हैं और आठवीं वाक् (ऋषिका) है। जो ब्रह्म (वेद) से उत्तम ज्ञान लाभ करती है।

इस मन्त्र की व्याख्या में याज्ञवल्क्य लिखते हैं—प्राणा वा ऋषयः। प्राणान् एतदाह।

चतुर्थ कण्डिका में—"इमावेव गोतमभरद्वाजौ। अयमेवगोतमोऽयं भरद्वाजः। इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी। अयमेव विश्वामित्रो

ऽयं जमदग्निः। इमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपः। वागेवात्रिः वाचा हि अन्नमद्यते । अत्तिर्ह वै नामैतद् यदत्रिरिति । सर्वस्य अत्ता भवति । सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ॥४॥

दो कान गोतम और भरद्वाज हैं, दायां कान गोतम और दूसरा कान भरद्वाज है। दोनों आँख विश्वामित्र और जमदग्नि हैं, दायीं आँख विश्वामित्र और बायीं जमदग्नि है। दोनों नाक वसिष्ठ और कश्यप हैं। दायां नाक वसिष्ठ और बायां कश्यप है। वाग् जिह्वा से ही अन्न खाया जाता है। वह खाने वाला होने से 'अत्ति' कहा जाता है। 'अत्ति' ही अत्रि है। वह सब खाता है।

इस कण्डिका में सातों ऋषियों की सुन्दर व्यवस्था करदी गई है। इस प्रकार ऋषियों के नाम के समस्त इतिहास विलीन हो जाते हैं।

उर्वशी और पुरूरवा

महेश्वर वैदिक संप्रदाय है। जो सायणाचार्य से बहुत पूर्व का है, स्कन्द स्वामी और वररुचि उसी सम्प्रदाय के हैं। वे ऐतिहासिक योजना लिखकर भी नित्य पक्ष के पक्षपाती हैं।

जैसे आचार्य वररुचि ने ऋग्वेद के १०।९५।१४ मन्त्र के भाष्य में लिखा है—नैरुक्त पक्षे तु पुरूरा मध्यमस्थानो वाय्वादीनामेकतमः। पुरु रौतीति पुरूरवाः। उर्वशी विद्युत् उरु विस्तीर्णम् अन्तरिक्षम् अश्नुते दीव्यत इति उर्वशी। वर्षाकाले विद्युति विनष्टायां तया वियुक्तः स्तनियत्नु लक्षणं शब्दं कुर्वन् विलपति।………औपचारिको यं मन्त्रेष्वाख्यान समयः नित्यत्वविरोधात्। परमार्थे तु नित्यपक्ष एवेति सिद्धान्तः।

अर्थात् निरुक्त के मत में—पुरूरवा मध्यमस्थानी, अन्तरिक्ष का देवता है। जो वायु आदि में से एक है। जो बहुत शब्द करता है वह 'पुरूरवा' है। उर्वशी विद्युत् है क्योंकि वह उरु अर्थात् विस्तृत अन्तरिक्ष में फैलकर चमकती है। वर्षाकाल में जब विद्युत्

नष्ट हो जाती है, उस से वियुक्त होकर गर्जना रूप शब्द करती है। मानो वह विलाप करती है। इस प्रकार मन्त्रों में आख्यान या कथा कहने का मत गौण है उसे प्रधान मानें तो वेदों के नित्य ज्ञान होने के सिद्धान्त का विरोध होता है। वस्तुत: तो नित्य पक्ष ही सिद्धान्त है। [वाररुच निरुक्त समुच्चय]

जल-विद्या पर लेख लिखते हुए स्वयं श्री पं० सातवलेकरजी ने मित्रावरुण, उर्वशी, के सम्बन्ध में लिखा है 'घृताची' घृत अर्थात्-उदक....जल का अंचन अर्थात् प्रवाह करने वाली। यह एक 'अप्सरा' का नाम है। यह विद्युत् के लिए सार्थक होता है। उर्वशी ....ऊरु वशे यस्या:। जिसके आधीन सब कुछ है उस विद्युत् को 'उर्वशी' कहते हैं। विद्युत् के अधीन जगत् के अनन्त पदार्थ हैं। यह बात सुप्रसिद्ध है। इसका दूसरा अर्थ भी मनन करने योग्य है। उरु बहु अश्नुते। जो बहुत भक्षण करती है। विद्युत् के पतन से किस प्रकार नाश होता है यह तथा अन्य बातें देखने से इस बात का ज्ञान हो सकता है कि विद्युत् का सर्वभक्षकत्व किस प्रकार है। सर्वत्र व्यापक ऐसा भी इससे एक भाव निकलता है [देखो वैदिक धर्म वर्ष १९२२ ई० मास]

पुरूरवा, उर्वशी का सम्बन्ध नाटकों और पुराणों में प्रसिद्ध है। पुरूरवा का अर्थ है जिसकी बड़ी आवाज है, मेघों की गड़गड़ाहट इस शब्द के अर्थ से ध्वनित होती है। इसलिए पुरूरवा शब्द मेघवाची है। और उर्वशी शब्द विद्युत् वाचक है। निरुक्तकार कहते हैं—

पुरूरवा बहुधा रोरूयते। ५।४६।।

जो अनेक प्रकार से बहुत बड़ा बड़ा शब्द करता है। वह पुरूरवा समझिए, मेघ और विद्युत् का सम्बन्ध यहाँ स्पष्ट है।

---

१. पुरूरवा और उर्वशी के सम्बन्ध में कालिदास का नाटक विक्रमोर्वशीय है।

आगे उक्त मान्य पंडितजी ने मित्र और और वरुण शब्दों भी वैज्ञानिक प्रकाश डाला है। ऋ० १। २। ७ मन्त्र को करके वरुण से आक्सिजन और मित्र से हाइड्रोजन लिया है। रेतः से उदक लिया है। मित्र शब्द को metre मापक शब्द से तुलना करके सब गैसों के मापक इकाई को हाइड्रोजन (उद्रजन) सिद्ध किया है। इतनी दूर तक विषय की सुन्दरता से आलंकारिक रूप में व्याख्या करके पंडित जी ने हमें समस्या को सुलझे रूप में समझने के योग्य कर दिया है। समस्या यह है कि मित्र और वरुण दोनों के सम्मिलित वीर्य से उर्वशी में वसिष्ठ की उत्पत्ति हुई है।

यह 'वसिष्ठ' कौन है? और वसिष्ठ से उत्पन्न हुए वेदमन्त्र में कहे 'वसिष्ठाः' वसिष्ठगण कौन हैं? इस पर विचार आगे चलना चाहिए। यदि वैदिक अलंकार इस समस्या को हल कर देता है तो पिजवन 'सुदास', उसके दिये चार घोड़े, दो वधूमत् रथ इनकी भी समस्या आप से आप सुलझ जावेगी। तब ये पदार्थ भी आलंकारिक तत्त्व ही रहेंगे। वे ऐतिहासिक पदार्थ नितराम् नहीं हो सकते।

वसुओं में सर्वश्रेष्ठ 'वसिष्ठ' आया है। जीव, इन्द्रियगण व गौण प्राण सद 'वसिष्ठाः' वसिष्ठगण हैं। उनसे उत्पन्न शक्ति, शक्ति से युक्त रोग व मृत्यु के कारणों के नाशक बल 'पराशर' हैं। पिजवन सुदास् परमात्मा और जीवात्मा हैं। धी बुद्धि 'वधू' है, उससे युक्त दो रथ ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, दो वर्ग दो वधूमत् रथ हैं, उनमें अन्तःकरणचतुष्टय चार घोड़े हैं।

इस प्रकार यह अलंकार स्पष्ट हो जाता है। वेद में वर्णित वसिष्ठ के मूल उत्पादक मित्र, वरुण, पुरूरवा, उर्वशी आदि आलंकारिक वैज्ञानिक तत्त्व हैं तो उनसे प्रादुर्भूत वसिष्ठ और उसके नाम से ख्यात तत्त्व भी ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हो सकते।

एक और दृष्टिकोण

राव साहब श्री कृष्णा जी विनायक वझे नासिक में इंजीनियर हैं। आपने जून १९२२ के 'वैदिक धर्म' में वेदार्थ करने के लिए वास्तु शास्त्र (शिल्प शास्त्र) के अध्ययन की आवश्यकता पर लिखे लेख में इस सम्बन्ध में उत्तम प्रकाश डाला है। आपने मित्र वरुण की उत्पत्ति के लिए सुभगा, घृतयोनि, 'मृत्कुम्भी' लेने का वर्णन 'अंग रूप संहिता' नामक प्राचीन शिल्पशास्त्र के अग्नियान खंड में वर्णित बतलाया है। उसमें विमान के लिए उपयोगी हाइड्रोजन को संग्रह करने की थैली (भस्त्रा) का वर्णन लिखा है। उस थैली (भस्त्रा) का नाम 'उर्वशी' बतलाया है। निश्छिद्र होकर वायु को बाहर निकलने से रोकने वाली होने से उसका नाम 'अप्सरा' है। मित्र, वरुण दोनों की उत्पत्ति मृत्कुम्भी में होती है। मित्र तथा वरुण ये दो प्रकार के विद्युत के प्रवाह हैं। ये दोनों कृत्रिम और वरुण कुम्भों में उत्पन्न होते हैं। कुंभ का अर्थ बिजली उत्पन्न करने के बैटरी के सैल (विद्युत्-घट) हैं। इस प्रकार के सौ घटों में विद्युत् उत्पन्न करके जिस सुवर्ण का शोधन या उत्पत्ति की जाती है वह 'शातकुंभ' सुवर्ण कहा जाता है।

आपका मन्तव्य है कि ये सब वैदिक शब्द भिन्न भिन्न विषय के शास्त्रों में भिन्न भिन्न वस्तुओं के नाम एवं वर्णक विशेषण हैं।

ऋ० ७।३३।९ में—यमेन ततं परिधिंवयन्तोऽप्सरस: उपसेदुर्वसिष्ठाः ॥

इस मन्त्र में (अप्सरस:) जल में संचार करने वाले (वसिष्ठाः) वश में रहने वाले और (वयन्तः) इधर उधर आनेजाने वाले नौका-यन्त्र (यमेन) नियामक यन्त्र से (ततं) फैले हुए (परिधिं) जालमय वस्त्र को (उपसेदुः) प्राप्त होते हैं।

नौकाशास्त्र में 'अप्सरा:' शब्द नौका यन्त्र का वाचक है। पुराणों के कथाप्रसंग में अप्सराएं स्वर्ग की नर्तकी वारयोषिताएं हैं। उप-

निषदों में इनका अर्थ 'प्राण' है। शिल्पसंहिता में चीनी या मिट्टी के बर्तन 'अप्सरा' हैं। ज्योतिषशास्त्र में दिशा, उपदिशाएं 'अप्सराएं' हैं। कृमिशास्त्र में जलसंचारी कृमि कीट हैं। उपरोक्त जलोत्पत्ति या रसायन शास्त्र में उर्वशी आदि अप्सरा विद्युत्-धारा हैं।

श्री पं० सातवलेकर जी ने १९२२ ई० में वेद में चर्खा नामक लेखमाला एवं एक पुस्तक भी इसी नाम से प्रकाशित की थी। उसमें २७ वें लेखांक में वही ऋग्वेद का ७।३३।९ मन्त्र लिखा है।

"यमेन ततं परिधिं वयन्तोऽप्सरस: उपसेदुर्वसिष्ठाः॥

वहां आपका अर्थ है—(अप्सरसः वसिष्ठाः) जलाश्रित प्राण (यमेन ततं परिधिं वयन्तः) यम से फैले हुए ताने की मर्यादा तक आयुष्य का कपड़ा बुनते हैं। इसमें निम्न बातें देखने योग्य हैं:—

यम = आयुष्य का ताना फैलाने वाला है।
ताना = आयुष्य की अवधि, आयुर्मर्यादा।
प्राण = कपड़ा बुनने वाले जुलाहे।
कपड़ा = आयुष्य।

"अर्थात् मनुष्यों का आयुष्य यह एक कपड़ा है, वह इस मनुष्य की देह रूपी खुड्डी पर बुना जाता है, यहां जुलाहे प्राण हैं, आयुष्य का ताना फैलानेवाला 'यम' है। वह जितना लम्बा ताना फैलाता है वे उतना ही लम्बा कपड़ा बुन सकते हैं। 'अप्सरसः' पानी के साथ संचार करने वाले (वसिष्ठाः) शरीर में निवास करने वाले 'प्राण' हैं।

कितनी उत्तम उपमा इस मन्त्र में दी है। जो इसका रस लेंगे वे क्षणमात्र तल्लीन हो जावेंगे। वे वेद की अद्भुत रचना के अवश्य ही आश्चर्यकारक आनन्द में मग्न होंगे इसमें कोई संदेह

नहीं। इस प्रकार मनन होने से वेद का अगाध गुह्य ज्ञान थोड़ा सा ध्यान में आता है।"

श्री पंडितजी के लेखानुसार वसिष्ठाः, अप्सरसः अर्थात् आयुष्य पट के बुनने वाले प्राण रूप जुलाहों की संगति सामान्य वस्त्र बुनने वाले तन्तुवायों से करें तो निश्चय ही कपड़े के बुनने की कला के ज्ञाता लोग इस वयन शास्त्र में 'वसिष्ठ' कहलावेंगे।

ऋ० ५। ४७। ६ में—पुत्र के लिए माताएं वस्त्रों के तुल्य ही अनेक कर्मों का ताना बना भी बुना करती हैं। ये माताएं 'अप्सरसः' 'वसिष्ठाः' कही जाने योग्य हैं। घर में बसे सब गृहसदस्यों में सब से अधिक मान्य एवं प्रमुख होने से 'वसिष्ठ' हैं। कर्मों में उनका विचक्षण गति कौशल होने से वे 'अप्सरसः' हैं।

वितन्वते धियो, अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति।
(ऋ० ५। ४७। ६)

ऋ० १०। १३०। १ में—इमे वयन्ति पितरः।

ये पिता लोग वयन करते हैं अर्थात् पट बुनते हैं। सायण ने इस मन्त्र के व्याख्यान में पितरः से 'अंगिरसः' लिया है। वे ज्योतिष्टोमादि यज्ञ रूप पट को बुनते हैं। परन्तु इस मन्त्र का ऋषि प्रजापति का पुत्र 'यज्ञ' स्वयं है। प्रथम मुख्य व्याख्यान में एक महा कल्पों से बने ब्रह्मा के विश्वायु १०१ वर्ष पर्यन्त 'विश्वरूप' महायज्ञ रूप पट को बुनने का वर्णन कहा है। वहां—'पितरः' से 'पालकाः, प्रजापतेः प्राणभूताः विश्वसृजो देवाः' लिया है। इस अध्यात्म में अवश्य वे भी प्राण ही हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त वयन-प्रकरण के वसिष्ठ दृष्ट सूक्त ७। ३३। ९ में कहे 'वसिष्ठाः' प्राण ही यहां 'पितरः' कहे हैं। यदि 'अंगिरसः' भी मानें तो वे भी दयानन्दोक्त दिशा में अंगों के रस स्वरूप प्राण ही हैं, भिन्न नहीं। इस प्रकार 'वसिष्ठाः' बहुवचनान्त पदों से ऐतिहासिक वसिष्ठ व्यक्ति मान लेने का कोई आधार शेष नहीं रहता।

क्योंकि सबसे प्रथम तो प्रजापति परमेश्वर ने ही विश्वमय महान् यज्ञमय पट बनाया और उसी के प्राणात्मक देवों ने यज्ञ सदन में मयूख रूप में उपस्थित होकर और विश्वसृजन रूप विश्वसृड्अयन रूप यज्ञ करते हैं। वे सामों का तसर (ताना बाना) बना लेते हैं। यह वर्णन ऋ० १। १३०। १ मन्त्र में है। इसमें प्रजापति को पुमान् (पुरुष) कहा है। पुमान् एतं तनुते। तब अध्यात्म में पुमान् पुरुष आत्मा जीव ही प्रभु अमर जुलाहा है, वही सर्व श्रेष्ठ 'वसिष्ठ' है। और सब देव गौण प्राण ही 'वसिष्ठाः' अनेक वसु या वसिष्ठ हैं, प्रत्येक प्राण अपनी कृति-कला में सर्व श्रेष्ठ होने से 'वसिष्ठ' ही कहाने योग्य हैं। वस्त्र बुनने वाले को 'वसिष्ठ' क्यों कहना उचित है इस पर प्रकाश डालने वाला मन्त्र, ऋ० ५। २९। १५ देखिए।

॥ "गौरिवीति शक्तय" दृष्ट मन्त्र है। ॥

वस्त्रेव भद्रा सुकृता वसूयू रथं न धीरः स्वपा अतक्षम् ॥

जिस प्रकार धीर बुद्धिमान् रथ को बनाता है और जिस प्रकार 'वसूयू' उत्तम सुन्दर बने, सुखद वस्त्र बनाता है वैसे ही मैं ज्ञानवान् उन मन्त्रों का प्रकाश करूं।

'वसूयू'⋯⋯वसु अर्थात् धन या वास योग्य, पहनने योग्य वस्त्र या बसने हारों का हित चाहने वाला सर्वोत्तम 'वसु' ही 'वसूयू' है। वही सर्वोत्तम 'वसु' वसिष्ठ है।

इन ही वस्त्रवयन कला कुशलों को अन्यत्र अन्य वेद में 'कवि' 'मनीषी' कहा है।

सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिणः
उर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति। (यजु० १९। ८०)

जिस प्रकार मनीषिणः, कवयः, महीयुवः आदि बहुवचन पद वेद में आकर किसी व्यक्ति के नाम नहीं है उसी प्रकार वयन-प्रसंग में आये 'वसिष्ठाः' पद भी वैयक्तिक नाम नहीं हैं। इसी प्रकार यज्ञ

और विश्व की रचना-प्रसंग में ये पद पक्षान्तर में भी ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम नहीं है।

वस्त्रों की विचारधारा में प्रवाहित होने पर हमारा ध्यान सभ्यता के सर्वोपरि अंग 'वस्त्र' पर गया है। वस्त्र धारण के साथ 'वस्' धातु का वेद में बहुत भावपूर्ण प्रयोग हुआ है। इससे मालूम होता है कि वस्त्रों के उत्तम रीति से पहनने से भी वे 'वसु' कहे जा सकते हैं। जैसे—

वसिष्वा हि मियेध्य वस्त्राणि ऊर्जांपते।
सेमं नो अध्वरं यज। ऋ० १।२६।१।

हे पवित्र! हे बलों के स्वामिन्! तू वस्त्रों को (वसिष्व) धारण कर, हमारे इस यज्ञ को कर।

यजमान यज्ञ में वरण करते हुए पुरोहितों को उत्तम वस्त्र देता है। इसी से वे 'वसु' कोटि में आजाते हैं। और इसी से उनका वरण करने के लिए 'वसो' ऐसा संबोधन किया जाता है।

आ वसो! सदने सीद। (वरण मन्त्र)

राजा या सर्वश्रेष्ठ वरुण को भी शुद्ध वस्त्र पहनने का आदेश है।

बिभ्रद् द्रापिं हिरण्यं वरुणो वस्त निर्णिजम्।
(ऋ० १।२५।१३)

वरुण सुनहरा सुवर्णतन्तु का बना चोगा, और शुद्ध वस्त्र धारण करता है।

'तार्प्य' भी वस्त्र होता है, उसके पहनने के संबंध में अथर्ववेद में मन्त्र है....

एतत्ते देवः सविता वासो ददाति भर्त्तवे।
तत्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर॥

सविता देव धारण करने के लिए तुझे यह वस्त्र देता है, तू

नियमों के अनुकूल चलने वाले (यम) राजा, प्रजापति, कुलपति, के राज्य में (तार्प्यं वसानः) उत्तम रेशी वस्त्र धारण करता हुआ आया जाया कर।

नायकों के लिए आज्ञापक विशेष अधिकारियों को विशेष कवच या पोशाक पहनने का आदेश है।

वसानो अत्कं सुरभिर्दृशे कं स्वर्ण नृतविषिरो बभूथ।
(ऋ० ६ । २९ । २)

हे नायक ! सुन्दर सुखद चोगा पहने हुए तू सूर्य के समान, दिखाई दे और (इषिरः) आज्ञा देने वाला, प्रेरक, प्रमुख अधिकारी बन।

उत्तम वस्त्र पहनने की सुसभ्यता ब्रह्मचारी तक को पालनी आवश्यक थी। युवा होकर भी उत्तम वस्त्र पहनना आवश्यक था।

युवा सुवासाः परिवीत आगात्। (ऋ० ३ । ८ । ४)

स्त्री पुरुषों को मोटे दृढ़ वस्त्र पहनने का आदेश है।

युवं वस्त्राणि पीवसा वसाथे। (ऋ० १ । १५२ । १)

आप दोनों मोटे मजबूत अनेक वस्त्र पहनते हैं।

युद्ध और यज्ञकाल में अनेक आज्ञा वचनों को कहने वाला शासक विशेष वस्त्र पहनता है।

भद्रा वस्त्रा समन्या वसानो महान् कविर्नि वचनानि शंसन्।
(ऋ० ९ । ९७ । २)

स्त्री के लिए भी वस्त्र पहनने का आदेश है।

भद्रा वस्त्राण्यर्जुना वसाना

इस प्रकार वस्त्र परिधान करने वाले सभ्य लोग 'वसु' और उनमें श्रेष्ठ एवं अन्यों को वस्त्र परिधान कराने वाले 'वसिष्ठ' ऐसी ध्वनि इन वेद मन्त्रों से निकलती है। इसी प्रसंग में 'वेधस्' शब्द पर ही हमारा ध्यान आकर्षित होता है कि वस्त्र वयन का कार्य करने वालों को वेद ने 'वेधसः' कहा है।

पिशंगे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः ।

पीले भूरे रंग के सूत्र में वेधस् लोग खृगल····कूंची ब्रुश झाड़ आदि बाँधते हैं ।

यह 'वेधस्' शब्द संस्कृत साहित्य में वसिष्ठ के लिए भी प्रयोग हुआ है ।

हमारा कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि वसिष्ठ आदि नाम तन्तुवाय व्यवसायियों तक ही सीमित है, प्रत्युत् वेद ने इसके साथ सूत्र, पट, आदि शब्दों के प्रयोग का क्षेत्र भी बहुत व्यापक लिया है। ज्ञान व यज्ञ को भी सूत्र माना है ।

ऋतस्य तन्तु वितत: पवित्र आ। (ऋ० ऋ० ९ । ७३ । ९)

सत्य ज्ञान और यज्ञ का पवित्र तन्तु जगत् भर में फैला है।

ऋचः प्रांचस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्चः (अथर्व० १५ । ३ । ६)

ऋचाएं ऋग्वेद के मन्त्र सीधे सूत्र (ताना) हैं और यजुर्वेद के मन्त्र तिरछे (बाना) सूत्र हैं ।

तन्तुं तनुष्व पूर्व्यम् (ऋ० १ । १४२ । १)

अच्छिन्नं तन्तुमनु सन्तरेम ।

ततं तन्तुमन्वेके तरन्ति । (अथ० ६ । १ । २२)

इन स्थानों पर तन्तु से प्रजा सूत्र और ज्ञान परम्परा भी ली गई है ।

परमेश्वर ब्रह्म को भी 'सूत्र' कहा है·······

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोता इमाः प्रजाः ।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मणं महत् ॥

(अथर्व० १० । ८ । ३७)

जो उस सूत्र को जानता है जिसमें समस्त प्रजाएं बिनी हुई हैं, और जो उस सूत्र के भी सूत्र को जानता है वह बड़े भारी ब्रह्म को जानता है ।

उपनिषदों ने भी इस सूत्र का वर्णन ब्रह्मविद्या में किया है। वसिष्ठ आदि जो ऋषि लोग उस परम सूत्र, यज्ञ सूत्र, और ज्ञान सूत्र के द्वारा जगत् को विद्यामय पट से आच्छादित करते थे वे वेद के अनुसार वसिष्ठादि नामों से प्रसिद्ध हुए। वेद के वे शब्द तो ऐतिहासिक वसिष्ठादि से कहीं पूर्व विद्यमान थे ही। अतः वेद के भीतर आये ये नाम ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम नहीं है। जिस जिस भी विद्या-शाखा की दृष्टि से इन नामों पर विचार किया जावेगा वहाँ वहाँ इन नामों के अर्थों में परिवर्तन आता हुआ दृष्टि-गोचर होगा।

इस प्रकरण को अब अधिक लम्बा न करके इतना लिखना उपयुक्त समझते हैं कि वेद में चर्खा लिखने वाले एवं वैदिक धर्म के सम्पादक वही श्री पं० सातवलेकर जी आज ३० वर्ष के पश्चात् उन्हीं मन्त्रों का वसिष्ठ (आदि) ऋषि के दर्शन रूप से व्याख्यान करते हुए 'वसिष्ठ' और 'वसिष्ठाः' शब्दों का अर्थ ऐतिहासिक व्यक्ति लेते हैं। नमूने के तौर पर देखिए।

१. ऋ० ७। ९। ६ त्वामग्ने समिधानो वसिष्ठो जरूथं हन् यक्षिराये पुरन्धिम्।

आप लिखते हैं ...... हे अग्ने (त्वां वसिष्ठः समिधानः) तुझे वसिष्ठ ऋषि प्रदीप्त करता है।

२. त्वां वर्धन्ति मतिभिर्वसिष्ठाः

इस पर श्री पंडित जी की टिप्पणी है—'यहां' 'वसिष्ठाः' पद बहुवचन में है। इस से स्पष्ट है कि यह जाति नाम है, गोत्र नाम है जो सबके लिए प्रयुक्त हो सकता है।'

हमारी सम्मति में केवल बहुवचन होना जाति और गोत्र नाम को सिद्ध नहीं कर सकता। यदि ऐसा होता तो मतयः, मनीषिणः, वेधसः, कवयः, विप्राः आदि नाम भी जाति नाम और गोत्र नाम

हो जाते। क्या सूक्त १८ मन्त्र ६ में 'मत्स्यासः' यह भी जाति या गोत्रवाचक है ?

राये मत्स्यासो निशिता अपीव ॥

इसी मन्त्र में

श्रुष्टिं चक्रुर्भृगवो द्रुह्यवश्च ।

भृगवः, द्रुह्यवः ये दो पद भी बहुवचन में हैं। हर्ष है कि श्री पं० जी ने इनको जाति व गोत्र नहीं माना। परन्तु उसी मन्त्र में

पुरोडा: इत् तुर्वशो यक्षुरासीद् ।

यहाँ तुर्वश नाम का एक राजा मान लिया है। वेद मन्त्र में कोई आधार राजा मानने का नहीं है। उक्त शब्दों के निम्नलिखित अर्थ भी स्वीकार किए हैं।

"तुर्वश ·······तुर्वश (तुर वश) त्वरा से वश करने वाला। किसी कार्य को कुशलता से सत्वर करने वाला । 'तुर्वश' कहलाता है"

"मत्स्यासः········मत्स्य उनको कहते हैं जो अपने जीवन के लिए दूसरों को निगलते हैं, खाते हैं, 'मात्स्य न्याय' उसको कहते हैं जहाँ बड़ा छोटे को खा जाता है। जीवन कलह में बड़ा छोटे को खाता है। वह बड़ा है इसलिए छोटे को खाएगा। जो ऐसा आचरण करते हैं उसका नाम 'मत्स्य' है। ये मत्स्य वृत्ति के लोग धन प्राप्त करने के लिए तीक्ष्ण होकर आपस में स्पर्धा करते हैं। प्रत्येक अपने आपको अधिक योग्य सिद्ध करता रहता है और दूसरे को अपने से कम दिखाता है। और उस कारण वह धन कमाता है। इस तरह मत्स्य लोगों में सतत स्पर्धा का जीवन रहता है। स्पर्धा करना और दुर्बलों को खाना ही उनका जीवन का मध्य बिन्दु होता है।"

"भृगवः"—अपने भरण पोषण के लिए जो हलचल करते हैं वे 'भृगु' हैं। (भृ) भरण पोषण के लिए जो (गु) अपनी

गति करते हैं, अपने प्रयत्नों की पराकाष्ठा करते हैं, वे 'भृगु' हैं। आजीविका के लिए सदा प्रयत्न करना ही इनका कार्य होता है।

'द्रुह्यवः'—'द्रुह्यु' वे हैं जो द्रोह करते हैं, घात पात करते हैं, डाका डालते हैं।

इस सूक्त के ७ वें मन्त्र में 'तृत्सवः' बहुवचन आया है, उसको भी इस मन्त्र में, न सायण ने और न श्री पं० जी ने ही जाति वाचक या गोत्र वाचक माना है।

आ यो नयत् सधमा आर्यस्य गव्या तृत्सुभ्यो अजगन् युधा नॄन् ॥
(ऋ० ७। १८। ७)

"जो इन्द्र (आर्यस्य सधमा गव्याः) आर्य की साथ रहने वाली गायों को (तृत्सुभ्यः आनयत्) हिंसक शत्रुओं से वापस लाता है अर्थात् जिसकी थी उनको वापस देता है, राजा का यह कर्तव्य है कि वह चोर को ढूंढ निकाले, उससे चोरी की वस्तुएं प्राप्त करे, जिसकी वह हो उसको वापस देवे।"

फलतः 'तृत्सु' शब्द भी यहाँ ऐतिहासिक व्यक्तियों का नाम नहीं है। सायण ने भी लिखा है—'तृत्सुभ्यः हिंसकेभ्यः।'

भृगु; द्रुह्यु, तृत्सु का प्रसंग लिखने से हमारा प्रयोजन यहाँ यह है कि श्री पंडित जी की 'वसिष्ठाः' के बहुवचन होने की युक्ति इन अनेक बहुवचन के प्रयोगों से कट जाती है। क्योंकि इनको वे स्वयं व्यक्ति विशेष का वाचक नहीं मानते। जब कि अनेक विद्वानों ने इन्हीं शब्दों को ऐतिहासिक व्यक्ति माना है।

उसी सूक्त १८ के मन्त्र १९ में श्री पं० जी ने (वसिष्ठ ऋषि का दर्शन पृ० ५५) में—

आवद् इन्द्रं यमुना तृत्सवश्च प्रात्र भेदं सर्वतो मुषायत्।
अजासः शिग्रवो यक्षवश्च बलिं शीर्षाणि जभ्रुरश्व्यानि।

"यमुना और तृत्सुओं ने इन्द्र की रक्षा की। अज शिग्रु और यक्षु लोगों ने इन्द्र को प्रमुख घोड़ों का प्रदान किया।"

(ऋ० ७ । १८ । २९)

ऐसा अर्थ किया है। नीचे टिप्पणी या विशेष भाष्य में लिखा है

भेदः—समाज में पक्ष भेद करने वाला शत्रु का मनुष्य।

यमुनाः—यमन, नियमन करने वाला शासक।

अजासः—हलचल करने वाले वीर।

तृत्सवः—संकटों से पार होने वाले वीर।

शिग्रवः—सत्वर कुशलता से काम करने वाले।

यक्षवः—याजक, यजन करने वाले।

यहाँ भेद, यमुना, तृत्सु, शिग्रु और यक्षु ये सायण के मत में सब ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। यमुना नदी, यह अपने तीरवासी जन की उपलक्षण है उनमें यमुना और तृत्सु तो इन्द्र की रक्षा करते हैं, इन्द्र 'भेद' नामक सुदास के शत्रु को मारता है।

अज, शिग्रु और यक्ष ये इन्द्र के नाम पर घोड़ों के सिर काट कर बलि करते हैं।

परन्तु श्री पं० सातवलेकर जी को सायण का यह मत सर्वथा मान्य नहीं है, क्योंकि वे वेद में किसी प्रकार की भी हिंसा-बलि नहीं मानते। सायण के अर्थ से अश्वों की इन्द्र को हिंसा-बलि सिद्ध हो जाती है। इसलिए पंडितजी ने अपने पक्ष की रक्षा के लिए भेद, यमुना, तृत्सु, शिग्रुः, यक्षु इनको जनपदों व उन स्थानों के वासी लोग न मान कर धातु प्रत्यय से भासमान शब्दार्थ कर दिया है।

परन्तु 'वसिष्ठासः' बहुवचन देखकर जो जाति-गोत्र वाची होने की युक्ति पंडितजी ने पूर्व दी थी उसका वहाँ खण्डन हो जाता है। क्योंकि तृत्सवः, अजासः, शिग्रवः, यक्षवः सभी बहुवचन हैं।

इस सूक्त के २० वे मन्त्र में (वसिष्ठ ऋषि का दर्शन पृ० ५५)—

........देवकं चिन् मान्यमानं जघन्था

ऽवत्मनाबृहतः शम्बरं भेत् ॥ ऋ० ७ । १८ । २० ॥

"अर्थात्........(मान्यमानं देवंचित् जंघन्थ) मान्यमान देवक शत्रु का तूने वध किया और (त्मना बृहतः शंबर अवभेत्) तूने स्वयं ही बड़े पर्वत से शम्बर नामक असुर शत्रु का नाश किया।" टिप्पणी में लिखते हैं—

मान्यमानं देवकं—घमन्डी गर्विष्ट लोग ही जिसका मान करते हैं देवक अर्थात् तुच्छ देवता के पूजकों को—अर्थात् श्रेष्ठ एक देव की भक्ति श्रद्धा से न करने वाले शत्रु का वध करना योग्य है। देव, देवक शब्द तुच्छ देव की पूजा के निषेध अर्थ में प्रयुक्त हुआ। देवक का अर्थ है छोटा देव, हीन पूजक, शत्रु।

शंबरं—बड़े पहाड़ पर रहकर युद्ध करने वाला शत्रु।

सायण के मत में देवक नाम का शत्रु मन्यमान का पुत्र था, और शम्बर असुर है। ये दोनों ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। परन्तु पंडित जी को यह बात अभिमत नहीं है।

२१ वें मन्त्र में 'पराशर' और 'वसिष्ठ' पद आये हैं।

प्र ये गृहाद् अममदुसचाया पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः।
न ते भोजस्य सख्यं मृशन्ताधा सूरिभ्यः सुदिनान्युच्छान् ॥

(ये पराशरः शतयातुः वसिष्ठः) जो पराशर सैकड़ों राक्षसों का सामना करने वाला वसिष्ठ (त्वायाः) तेरी भक्ति करने वाले (गृहात् प्र अममदुः) घर घर में संतुष्ट करते हैं, (ते भोजस्य सख्यं न मृषन्त) वे ऋषि भोजन देने वाले तुम्हारी मित्रता का विस्मरण नहीं होने देते। (अध सूरिभ्यः सुदिना व्युच्छान्) इन ज्ञानियों को उत्तम दिन प्राप्त हो।

इस अर्थ में पंडित जी ने शतयातु का तो शब्दार्थ किया है। पराशर और वसिष्ठ व्यक्ति नाम के तुल्य छोड़ दिये हैं। परन्तु टिप्पणी में आप लिखते हैं............

'पराशर' तथा 'वसिष्ठ' ये ऋषि ऐसे हैं जो सैकड़ों राक्षसों का सामना करने वाले शतयातु थे। 'पराशर' वह है कि जो दूर तक शर सन्धान कर सकता है, और 'वसिष्ठ' वह है कि जो शत्रुओं के हमले होने पर भी 'वसति इति वसिष्ठः' जो अपने स्थान पर रहता है, ये दोनों गुण विजय के लिए आवश्यक हैं। दूर से बाणों का प्रयोग करने से दूर से ही शत्रु भाग जावेगा, अथवा विनष्ट होगा। तथा अपना स्थान न छोड़ने वाला भी शक्तिशाली चाहिए, ऋषियों के आश्रम शस्त्रास्त्रों से सम्पन्न थे। इस बात की सूचना इन शब्दों से बोधित होती है। राक्षसों का प्रतीकार करने की शक्ति ये अपने में रखते थे। इस कारण ही वन में आश्रम करके ये अपना कार्य करते थे।

टिप्पणी में पंडित जी ने पराशर, वसिष्ठ ऋषि तो माने परन्तु विशेष व्यक्ति न मानकर सामान्य रूप से ऋषियों का एक ऐसा वर्ग मान लिया है जो विशेष गुण के कारण उस नाम से कहे जा सकते थे। इसी कारण पराशर और वसिष्ठ पदों के शब्दों की व्याख्या की है।

सायण में विशेष बात यह है कि 'शतयातु' नाम से सायण ने 'शक्ति' नाम ऋषि विशेष लिया है। जिसको हम केवल एक निराधार अटकल ही कह सकते हैं। परन्तु यह बात पंडित जी ने समस्त वसिष्ठ दृष्टों में निभाने का यत्न नहीं किया। इसी कारण २२ और २३ मन्त्र जिन का हमने पूर्वउल्लेख किया है, उन मन्त्रों में ही पंडित जी देववत् पैजवन सुदास, उसके किये दान, २०० गौएँ, दो वधूमद् रथ, चार घोड़े, इनकी समस्या को सुलझा नहीं सके।

सायण ने देववान् नामक राजा का पौत्र और पिजवन राजा का पुत्र सुदास माना है। सुदास् राजा के पिता का दूसरा नाम दिवोदास माना है। जैसा सायण लिखता है कि—'दिवोदास इति पिजवनस्यैव नामान्तरम्।' जिस पर पाठान्तर है 'पैजवनस्य'। इस पाठान्तर से एक संदेह यह उठता है कि यदि दिवोदास पिजवन का दूसरा नाम है तो दिवोदास वा पिजवन का सुदास पुत्र है। यदि 'पैजवन' पाठ मानें तो सुदास और दिवोदास एक हो जाते हैं। तब 'पितरं सुदासः' की संगति ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं बैठती। श्री वासुदेव शास्त्री अभयंकर के सम्पादन में 'पिजवनस्यैव' पाठ स्थिर माना है। और ख, श हस्तलेखों का पैजवनस्यैव पाठ नहीं माना है।

परन्तु सुदास और पिजवन दो का ऐतिहासिक पुरुष मानने वाले श्री पंडितजी ने देववान् को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं माना है। देववतः का अर्थ किया है देवभक्त।

देववान्
|
पिजवन (दिवोदास)
|
सुदास

सायण ने मन्त्र २४ में

नि युध्यामधिम् अशिशाद् अभीके।

'युध्यामधि' को 'सुदास्' का शत्रु माना है। श्री पंडित जी ने 'युध्यामधि' के विषय में लिखा है—'युद्धयामधि' उसको कहते हैं जो शत्रु युद्ध से ही सदा दुःख देता रहता है। नाना प्रकार से कहने पर वह सुनता नहीं और आक्रमण करता ही रहता है। ऐसे शत्रु का वध करना योग्य है।

अर्थात् श्री पं० जी की दृष्टि में 'युध्यामधि' भी ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है।

पृ० २ से लेकर पृष्ठ ८ तक हमने जिस ऐतिहासिक समस्या को पाठकों के समक्ष रखा था उसको पर्याप्त रूप से हमने वहां ही अनेकों मतभेद सहित स्पष्ट कर दिया था।

पूर्ण समाधान करने के लिए पर्याप्त सामग्री हमने पाठकों के समक्ष संचित कर दी है। वसिष्ठ और वसिष्ठ से सम्बद्ध अनेक व्यक्तिगत नामों को हमने श्री पंडित जी के ही पुराने और नए विवरणों से यहां खोलकर रख दिया है। अब रहे सहे कुछ नाम ही शेष हैं, जिनको स्पष्ट कर देने से या उनका ऐतिहासिकत्व टूट जाने से ऐतिहासिक स्थापना का भवन आप से आप खंडित हो जाता है।

वसिष्ठ के सम्बन्ध में विवेचना पृष्ठ ४९ से ५७ तक करदी है। 'वसिष्ठः' 'वसिष्ठाः' इन दोनों प्रयोगों के सम्बन्ध में श्री पं० जी के पूर्व के लेखों से ऐतिहासिकत्व नष्ट हो जाता है। श्री पंडित जी के अपने लेख ही वसिष्ठ के सम्बन्ध के 'पराशर' आदि शब्दों के समाधान भी दे रहे हैं। तब जब वसिष्ठ ही कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं, तब उसको दान देने वाला सुदास, और उसका पिता पिजवन और उसका पिता देववत् ये भी ऐतिहासिक नहीं रहते। इन नामों के भी निरुक्त संगत शब्दार्थ लेकर वेदोक्त तथ्यों की सुसंगति लगानी चाहिए।

वह सुसंगति तभी लग सकती है जब हम वेदों के मन्त्रों पर स्वच्छन्द, बिना किसी पूर्व भावना के वश हुए विचार करेंगे। जहां तक हो सके, मनमाना अध्याहार करके हम वेदमन्त्र पर वेद बाह्य वस्तु को न लादें। सूक्त का देवता कौन है ? और मन्त्रगत देवता पद क्या है इस पर भी ध्यान रखें। अब हम वसिष्ठ ऋषि के दृष्ट ऋग्वेद के मंडल ७। सूक्त १८ के उन मन्त्रों को एक एक करके लेंगे जिन में कुछ भी नाम ऐतिहासिक व्यक्तियों या नदी पर्वतादि के नाम मान लिये गये हैं और स्पष्ट करेंगे कि ऐतिहासिक पक्ष

मानने वालों ने वेदार्थ करने में कितना बलात्कार मन्त्रों पर किया है। सबसे प्रमुख सायण है इसलिए सबसे प्रथम हम सायण का लेख उद्धृत करेंगे और फिर अन्यों का। प्रधान मल्लनिवर्हण न्याय से सायण के दूषित होने पर उसका पूर्णतः या अंशतः अनुसरण करने वाले भी आप से आप खंडित हो जाते हैं।

वसिष्ठ ऋषि दर्शन (ऋ० ७। सू० १८)

ऋषिः मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । देवता इन्द्रः । २२—२५ मन्त्रों का देवता सुदाः पैजवनः । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

पाठक इस सूक्त पर विचार करने के पूर्व यह बात ध्यान में रखें कि २२ से २५ मन्त्रों का देवता 'सुदाः पैजवनः' लिखा है। और सुदाः पैजवन, ऋ० १०।१३३ का ऋषि भी माना गया है। तब प्रश्न स्वभावतः उठता है यदि देवता भी ऐतिहासिक व्यक्ति हैं तो इन्द्र आदि देवता भी ऐतिहासिक व्यक्ति माने जाने चाहिए। तब अग्नि, सोम, वायु, मरुत, अश्विनौ, वरुण, मित्र ये सब ऐतिहासिक नाम हैं। परन्तु ऐसी व्यापक कल्पना या स्थापना अभी तक किसी भी वेद-अनुशीलक ने नहीं की है। तब २२ से २५ मन्त्रों का देवता 'सुदाः पैजवन' क्यों कर ऐतिहासिक व्यक्ति माना जाय। उस मंत्र में 'सुदास्' पैजवन शब्द भी देवता के नाम हैं और देवता के गुणों को ही बतलाने वाले हैं। उनको किसी इन्हीं नामों वाले ऐतिहासिक व्यक्तियों से मिला देना और वैसा मान लेना एक भारी अनर्थ होगा। यह एक ऐसा ही अनर्थ होगा कि—'विष्णोः स्थानमसीत' प्रयोग देखकर 'अल्ला का घर मसजिद' अर्थ करके वेदों में मसजिदों का होना भी सिद्ध हो जावेगा। अस्तु।

सर्वानुक्रमणिका में पंक्ति लिखी है—

त्वेह पञ्चाधिकैन्द्रम् । सुदासः पैजवनस्यान्त्याश्चतस्रो दानस्तुतिः—

सायण का लेख है—तत्र त्वेह यत्पितरः इति पञ्चविंशत्यृचं प्रथमं-

सूक्तं वसिष्ठस्यार्षम् त्रैष्टुभम् इन्द्रदेवताकम् । द्वाविंशादिभिः सुदासनाम्नो राज्ञो दानं स्तूयते अतस्तद्देवताकाः ।

अर्थ—'त्वेह यत् पितरः०' यह सूक्त २५ ऋचा वाला है, इसका द्रष्टा ऋषि वसिष्ठ है, छन्द त्रिष्टुप् है २२ वीं ऋचा से आगे सुदास नाम राजा का दान वर्णित है । इसलिए वही 'सुदास' देवता है ।

सायण के कथन में केवल इतनी त्रुटि है कि सुदास् नाम का राजा मान लिया है । वेद में इसका कोई आधार नहीं है । यह सायण की अपनी कपोल कल्पना है । और उसके पीछे चलकर सुदास् पैजवन को विशेष ऐतिहासिक राजा मान लेने वालों की तो अन्धपरम्परामात्र है । सर्वानुक्रमणिका के कर्ता ने सुदास पैजवन् देवता लिखने में कोई त्रुटि नहीं की । क्योंकि देवता का जो पद या शब्दलिंग होता है उसी नाम से देवता का निर्देश किया जाता है । तब अनुक्रमणीकार के वैसा लिखने का केवलमात्र इतना ही अभिप्राय है कि इन चार मन्त्रों में देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय को बतलाने वाले 'पद' "सुदास् पैजवन' हैं । अनुक्रमणिकाकार किसी को यह कहने को नहीं जाता कि वह राजा है, या ब्राह्मण, वह किसी कथा का पात्र है या आलंकारिक है, आगे उसका निर्णय करना तो वेदाध्यायी विद्वानों का काम है ।

वसिष्ठ ऋषि के दर्शन के लेखक योग्य विद्वान् श्री पंडित सातवलेकर जी ने उक्त वसिष्ठ दर्शन को ९ प्रकरणों में विभक्त किया है । १. अग्नि प्रकरण, २. इन्द्र प्रकरण, ३. विश्वेदेव प्रकरण, ४. मरुत् प्रकरण, ५. मित्रावरुण प्रकरण, ६. अश्विनौ प्रकरण, ७. इन्द्रावरुण प्रकरण, ८. पुनः अश्विनौ प्रकरण, पावमान सोम प्रकरण, ९. अथर्ववेद के प्रकीर्ण सूक्त ।

जिस सूक्त पर हम अनुशीलन कर रहे हैं वह सूक्त इन्द्र प्रकरण

है। तब इसमें पिजवन के पुत्र सुदास् का देवता रूप से प्रकरण किस प्रकार आगया। यह एक अनहोनी सी बात हो गई। या तो वह स्वयं इन्द्र हो, या वह इन्द्र का अंशावतार हो तभी उसका प्रसंग आना सम्भव है, अन्यथा नहीं। वेद कोई इन्द्र-पुराण नहीं है। इन्द्र नाम से जितने तत्वों का प्रतिपादन सम्भव है वह वेद इन्द्र देवता की ऋचा में कहेगा। या शब्दान्तर में इन्द्र देवता की ऋचा जो वस्तु कह रही है उसको इन्द्र नाम से कहना वा जानना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि यदि वेद की ऋचा जब ज्ञान देने वाले का वर्णन करती है तब इन्द्र देवता के प्रकरण में वहाँ 'इन्द्र' शब्द अध्यापक व आचार्य का ही वाचक है। यदि वृष्टिजल का वर्णन है तो वहाँ प्रसंगानुसार इन्द्र, विद्युत, मेघ, वायु का वाचक है। जहाँ सृष्टि उत्पत्ति धारण व संहार का वर्णन है वहाँ ब्रह्म-प्रतिपाद्य परमेश्वर ही 'इन्द्र' शब्द से कहा गया है, जहाँ दुष्टों के दमन का वर्णन है वहाँ राजा व दुष्टदमनकर्ता शक्तिशाली पुरुष का ही वर्णन है। इसमें किसी को कोई विवाद करने का अवकाश नहीं है। क्योंकि सर्वमान्य सिद्धान्त यही है—'या तेन उच्यते सा देवता।' वेद मन्त्र जिसको कहता है देवता का वही स्वरूप है, इसी से मीमांसा का मन्त्रमय देवता का सिद्धान्त ठीक उतरता है। इन्द्र के सूक्त में भी इस प्रकार मन्त्र जिस तत्व पदार्थ को कह रहा है इन्द्र का भी वही रूप है। यदि मन्त्र अध्यापक के कर्तव्य कहता है तो इन्द्र का रूप अध्यापक ही है।

इसलिए सबसे प्रथम हमें मन्त्र क्या कहता है इसका ज्ञान करना आवश्यक है। इसी कारण हमें पहले कोई अवान्तर भावना या मनोवृत्ति रखकर वेद का अर्थ नहीं करना है। हम जब ऐसा करेंगे तभी हम वस्तुतः वेद से दूर हो जावेंगे। वेद पर इतिहास पुराण की सत्यासत्य कथा, आख्यायिका, व आख्यानक का अनावश्यक

बोझा लाद देंगे और वेदार्थ को विकृत कर देंगे। यही अनर्थ विनि-योग को चित्त में धर कर वेदार्थ करने वाले भाष्यकारों ने भी किया है। फलतः अग्नि, इन्द्र को एक कल्पित देवता मानकर जड़ में भी चेतनोचित विशेषणों को लगा दिया है। जो उपहासास्पद है। अतः अब पुनः हम अपने प्रकरण पर आते हैं कि—

सुदाः पैजवनः २२ से २५ तक के चार मंत्रों में कौन है ?

इसका निर्णय सूक्त मात्र का देवता ही निर्णय करेगा। बृहद्देवता महाभारत या पुराणों की कथाएं इस बात का निर्णय नहीं करेंगी। शब्द, शब्दार्थ का निर्णय निरुक्त व्याकरण करेंगे। इसी प्रकार अन्य नाम पदों के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

'सुदास्' शब्द पर विचार

सुदास कौन है ? यह प्रश्न ऐतिहासिक अनित्य पक्षवालों के लिए तो बहुत सरल है। सायण ने अनेक स्थानों पर ऋग्वेद में सुदास शब्द आने पर निराधार ही 'पैजवनं सुदासम्, पैजवनस्य सुदासस्य राज्ञः, सुदासे राज्ञे पिजवनपुत्राय' इत्यादि लिखकर विचार करने वाले की मति-प्रगति को निश्चेष्ट कर दिया है। इससे बहुत अधिक भ्रम फैला है। सुदास कौन है ? इसका निर्णय भी वेद को करना है।

ऋ० ८। ९८। ४ में सुदाः (सुदास्) का वर्णन है।

'नकीं वृधीक इन्द्र ते न सुषा न सुदा उत नान्यस्त्वच्छूर वाघतः' ॥

हे इन्द्र ! तुझ से दूसरा कोई (वृधीकः) बढ़ाने वाला, (सुषाः) उत्तम सुख ऐश्वर्य बाँटने वाला, और न (सुदाः) उत्तम दाता ही है। और तुझ से दूसरा न कोई (वाघतः) ऋत्विज्, यजमान को मार्ग दिखाने वाला है।

इस मन्त्र का द्रष्टा काण्व कुरुसुति है 'इन्द्र' देवता है। हमारे प्रकृत मन्त्र में (द्वे शते गोः) दो सौ गौवें वसिष्ठ ने सुदास् से प्राप्त

की हैं। क्या किसी विशेष ऐतिहासिक राजा से प्राप्त की हैं ? ऐसा कहना व्यर्थ है। कुरुसुति का दर्शन है कि—

पुरोडाशं नो अन्धसः इन्द्र सहस्रमा भर।
शता च शूरगोनाम्। ऋ० ८। सू० ९८। मन्त्र १॥

सायण के अनुसार—हमारा पुरोडाश स्वीकार करके हमें हजारों और सैकड़ों गौएं प्रदान कर। अथवा हमें हजारों मन अन्न, और सैकड़ों गौवें प्रदान करो।

इसी सूक्त का आठवाँ मन्त्र है—

त्वे वसूनि संगता विश्वा च सोम सौभगा।
सुदात्व् अपरिहृता।

हे इन्द्र सोम ! तेरे में समस्त वसु ऐश्वर्य हैं और सौभाग्य प्राप्त हैं, और समस्त उत्तम, कुटिलतारहित दान, जो दूसरों को विपत्ति में फाँसने के लिए न हों, तेरे आश्रय में प्राप्त होते हैं।

नवाँ मन्त्र—

त्वाम् इद् यवयुर्ममकामो गव्युर्हिरण्ययुः।
त्वाम् अश्वयुरेषते।

यव, अन्न की इच्छा वाली, गौ की इच्छा वाली, सुवर्ण की इच्छा वाली, अश्व की इच्छा वाली मेरी अभिलाषा तेरी ओर ही जाती है।

इसी प्रकार मंडल ८। सू० ७७। मंत्र १० में—

विश्वेत्ता विष्णुराभरद् उरुक्रमस्त्वेषितः।
शतं महिषान् क्षीरपाकम् ओदनं वराहम् इन्द्र एमुषम्।

सायण ने इस मंत्र पर इतिहास लिखकर भी निरुक्त पक्ष की योजना को प्राथम्य दिया है।

सैकड़ों पशु, क्षीरपाक, अन्न और जलवर्षी मेघ हे इन्द्र ! ये सब तेरे से प्रेरित विष्णु सूर्य ही देता है।

काण्व कुरु सुति के इस प्रकार इन्द्र से प्राप्त होने वाले अनेक शुभ दानों के दाता (सु-दातु) पर दृष्टि डालिए। और कुरुसुति ने इन्द्र को ही सुदास रूप से साक्षात् किया है। तब निश्चय हुआ कि 'इन्द्र' परमेश्वर से बड़ा 'सुदास्' दूसरा नहीं है। लोक में इन्द्रस्थानी राजा है, वह भी भूमि, गौ, अश्व देने से 'सुदास्' पद वाच्य है। वेद इन गुणों से वाच्य को ही 'सुदास्' नाम से कहता है। और 'इन्द्र' ही राजा है। वेदार्थ के लिए कोई ऐतिहासिक तुच्छ राजा अन्यत्र ढूंढने की आवश्यकता नहीं है।

सायण ने इन स्थलों में स्वयं लिखा है—सुदाः सुदाता। 'सुदाः' का अर्थ है सुदाता, उत्तम दाता।

ऋ० १।१८५।९ मन्त्र में—

भूरिचिदर्यः सुदास्तरा येषामदन्त इषयेम देवाः।

सायण ने अर्थ किया है कि हम अन्न से स्वयं तृप्त होते और अन्यों को तृप्त करते हुए (सुदास्तराय) खूब अधिक उत्तम दोनों के दाता की हम इच्छा करें, उसे चाहें। या ईश्वर अर्थात् राजा से भी अधिक देने वाले को हम चाहें।

यहाँ 'सुदास्तराय' सुदास शब्द से 'तरप्' प्रत्यय करके अतिशय अर्थ में प्रयोग है। हम पूर्व लिख आये हैं कि विशेषण में तरप्, तमप् प्रत्यय (Comparative and superlative degrees.) लगते हैं नाम वाचक शब्द से नहीं लगते हैं। अतः स्पष्ट है कि वेद की दृष्टि में 'सुदास्' शब्द किसी व्यक्ति का नाम नहीं है। यह विशेषणमात्र है जो अति अधिक सुन्दर कल्याणतम दान देता है।

विश्वामित्रो यदवहत् सुदासम् अप्रियायत कुशिकेभिरिन्द्रः

सायण ने अर्थ किया है— (ऋ० ३ । ५३ । ९)

विश्वामित्र ने (सुदासं) सुदास पैजवन राजा को जब (अवहत्) यज्ञ कराया तब (इन्द्रः कुशिकेभिः अप्रियायत) इन्द्र कुशिकों से उनके प्रिय के समान आचरण करने लगा।

यहाँ केवल सुदास नाम देखकर बिना सोचे समझे विश्वामित्र और कुशिक और सुदास को ऐतिहासिक व्यक्ति मान लिया गया है। यह भूल यहाँ भी सुदास् को इन्द्र का विशेषण न मान कर हुई है। इस इतिहास पक्ष को अङ्गीकार करके सायण को 'अवहत्' का अर्थ अयाजयत् करना पड़ा है, जो किसी प्रकार भी संगत नहीं है।

इसी प्रकार मंत्र ११ में—

उप प्रेत कुशिकाश्चेतयध्वं राये प्र मुञ्चता सुदासः ।
राजा वृत्रं जंघनत् प्रागपागुदग् अथा यजाते पर आ पृथिव्याः ॥
(ऋ० ३ । ५३ । ११)

सायण ने अर्थ किया है—

"हे कुशिक गोत्र वालो ! अश्व के पास आओ, और सावधान रहो, सुदास् पैजवन राजा का अश्व दिग्विजय से धन प्राप्त करने के लिए छोड़ो। और राजा देवों के स्वामी इन्द्र ने प्राची आदि सभी देशों में वृत्र को मारा है, अब पृथिवी के उत्तम देवयजन देश में राजा यज्ञ करे।

ऐतिहासिक पक्ष के मन्त्र ने अर्थ को कितना विकृत कर दिया है।

जो बात मन्त्र में सायण ने कही है उसका आगे पीछे के मन्त्रों में कोई प्रसंग नहीं है। पूर्वार्ध में राजा 'सुदास्' है। उत्तरार्ध में राजा इन्द्र बन जाता है। वास्तविकता यह है कि जो सुदास् है, वही

वही इन्द्र है। राजा और मन्त्रियों के परस्पर कर्तव्यों का वर्णन है। अश्वमेध यज्ञ करने वाला राजा (यजमान) सुदास् और इन्द्र है।

यास्क ने निरुक्त में स्पष्ट कह दिया है—'सुदाः' कल्याणदानः।

कल्याणकारी दानशील पुरुष सुदास् है।

पाठकों की रुचि वृद्धि के लिए हम दो मन्त्रांश और उद्धृत करते हैं देखिये कि हमारी बात कितनी दृढ़ है।

सुदासे दस्रावसु बिभ्रता रथे पृक्षो वहतमश्विना।

(अ० १।४९।६)

हे (दस्रा) दर्शनीय अश्वियो ! (सुदासे), शोभन दान देने वाले के (रथे) रथ में (वसु बिभ्रता) ऐश्वर्य भरते हुए आप दोनों (अन्नं वहतम्) अन्न प्राप्त कराओ।

यहां सुदासे का अर्थ सायण ने 'शोभनदानयुक्ताय' किया है। तो भी 'राज्ञे पिजवनपुत्राय' लिख दिया है, अर्थात् पिजवन के पुत्र राजा सुदास के रथ में तुम हे अश्वियो, ! धन अन्न प्रदान करो। परन्तु इतिहास मान लेने पर सायण को एक कठिनाई और अनुभव हुई कि (वहतम) प्राप्त कराओ, इसका अर्थ भूतकालिक प्रापितवन्तौ अर्थ करना पड़ा। जब कि उसके साथ पढ़ी क्रिया 'धत्तम्' का अर्थ 'स्थापयतम्' प्रार्थनापरक किया है।

इस प्रकार सायण का ऐसा अर्थ करना वेद पर अत्याचार ही है। यदि लकार व्यत्यय भी मान लें तो व्यत्यय दो स्थानों पर ही क्यों, और सूक्त में आये २० से अधिक क्रियाओं में व्यत्यय क्यों नहीं होता। अब इस मन्त्र के सुदासे पद की तुलना नीचे लिखे उसी सूक्त के मन्त्र ८ में आये 'सुदानवे' पद से कीजिए।

इषं पृचन्ता सुकृते सुदानवे बर्हिः सीदतं नरा।

सुदानवे शोभनदान से युक्त यजमान को (इषम्) अन्न (पृचन्ता) प्रदान करते हुए आप दोनों (बर्हिः आसीदतम्), कुश आसन पर विराजो।

इस मन्त्र में 'सुदानवे' शब्द है। सायण ने सुदासे और सुदानवे दोनों पदों का एक ही समान अर्थ किया है। 'शोभन दानयुक्ताय' सुन्दर उत्तम दान देने वाला, इसमें दानु या दानव शब्द ऐतिहासिक दानु, दानव नहीं लिये हैं, तब सुदास शब्द ने ही क्या अपराध किया है कि उसका अर्थ ऐतिहासिक व्यक्ति किया जाय।

वेद में इसी प्रकार एक शब्द दाश्वान् है, इसका अर्थ भी दानशील है। इसका भी प्रयोग प्रायः सर्वत्र है। इसी सूक्त में देखिये—

अथाद्यदस्रा वसु विभ्रता रथे दाश्वांसमुपगच्छतम्। (ऋ० १। ४१। ३)॥

हे (दस्रा) दर्शनीय अश्वियो ! (अथ) हमारे बुलाने के बाद आज (रथे वसु बिभ्रता) रथ में ऐश्वर्य धन लेकर (दाश्वांसम् हविष्प्रदं यजमानम् उप यच्छतम्) हवि देने वाले दानशील यजमान को प्राप्त होओ।

पुनः इसी सूक्त में

तमश्विना पिबतं तिरोअह्न्यं धत्तं रत्नानि दाशुषे॥

हे अश्वियो ! आप कल के बीते दिन का निकाला सोम पान करो और (दाशुषे=हुविर्दत्तवते यजमानाय) हवि देने वाले यजमान को अनेक (रत्नानि धत्तम्) रत्न प्रदान करो।

पुनः इसी सूक्त में और लीजिए।

येन शश्वदूहथर्दाशुषे वसु मध्वः सोमस्य पीतये॥ ९॥

(दाशुषे=हविर्दत्तवते यजमानाय) हविदेने वाले यजमान के लिए (येन वसु ऊहथुः) जिस रथ से आप ऐश्वर्य लाते थे (मध्वः सोमस्य पीतये) मधुर सोम पान के लिए उस रथ से आप आइये।

यहां दाश्वान् यजमान के लिए रथ में वसु भरके अश्वि लाते हैं। इस मन्त्र में 'दाश्वान्' को रत्न देते हैं। मंत्र आठ में 'सुदानु' यजमान को अन्न से पूर्ण करते हैं, मन्त्र ३ में, रथ में वसु (धन) लाकर 'दाश्वान्' यजमान के पास आते हैं। मन्त्र छः में 'सुदासे' दानशील राजा पिजवन के बेटे के पास धन ले जाते हैं। कितनी असंगत योजना है। जब सर्वत्र दानशील वाचक शब्द एक समान है तब पिजवन के पुत्र एक ऐतिहासिक व्यक्ति को एक ही सूक्त में लेजाना एक भंयकर भूल है। या इतिहास मानने वालों की एक जिद्द पूर्ण शरारत है।

वसिष्ठ दृष्ट जिस सूक्त की हम आलोचना कर रहे थे, उस प्रसंग में हमने 'सुदास्' शब्द के विवेचन में पाठकों को भाष्यकार सायण की 'सुदास्' शब्द के अर्थ करने में कैसी कचाई है, इस बात को दिखलाने के लिए हमें यह प्रयास करना पड़ा है। पाठकों को विदित हो गया है कि 'सुदास्' वेद में किसी राजा का नाम नहीं है। प्रत्युत दानशील परमेश्वर, राजा (सामान्य), मेघ और यजमान को कहता है। सुदास् इन्द्र सूक्त में इन्द्र के लिए इसी प्रकार विशेषण आया है जिस प्रकार अग्नि के लिए हम पूर्व 'अंगिरस्' शब्द दिखला आये हैं। देखो पृ० ३२ पर (ऋ० १ सूक्त १। मन्त्र ६)। इन्द्र के भारी दानशीलता के कुछ नमूने वेद मन्त्रों से हमने दिखा दिये हैं।

अब पुनः वसिष्ठ दृष्ट मंडल ७ के १८ वें सूक्त पर आते हैं। वहां भी 'सुदास्' का प्रसंग देखते हैं। सुदास् के दान की स्तुति भी पाते हैं, यहां सुदास् के साथ पैजवन नाम को भी जुड़ा पाते हैं। पिता दिवोदास का नाम भी पाते हैं, ये सब ऐतिहासिक व्यक्तियों के से नाम वेदमन्त्र में आकर पाठक के चित्त में भ्रम उत्पन्न करते हैं।

वेद में आये इन नामों को विचारने के लिए हमें शब्द-अर्थ पर ही विशेष ध्यान रखना होगा।

सुदास् का वर्णन केवल इन्द्र प्रकरण में है ऐसा नहीं है। वेद में तो इन्द्र प्रकरण के अतिरिक्त भी अनेक स्थानों पर आया है जो पूर्व हम दिखा चुके हैं। परन्तु वसिष्ठ ऋषि के दर्शन में मंडल ७ में भी अन्य देवों के प्रकरण में भी 'सुदास् शब्द आया है।

अब हम उन मन्त्रों पर विचार करते हैं।

१. मित्रस्तन्नो वरुणो देवो अर्यः प्रसाधिष्टेभिः पथिभिर्नयन्तु।
ब्रवद् य मान आदरिः सुदास इषा मदेम सह देवगोपाः॥ऋ०७॥

मित्र वरुण और अर्य ये तीनों (नः) हमें (साधिष्टेभिः पथिभिः) अति उत्तम मार्गों से (प्र नयन्तु) उत्तम प्रकार से आगे ले चलें, उन्नतिपद की ओर ले चलें (आत्) अनन्तर (यथा) जिस प्रकार (नः अरिः ब्रवद्) हमारा श्रेष्ठ स्वामी हमें उपदेश करे, आज्ञा दे उसी प्रकार हम (देवगोपाः) देवों विद्वानों से सुरक्षित रह कर (सुदासे इषा मदेम) शुभ दानशील, दाता परमेश्वर के दिये अन्न व उत्तम ज्ञान प्रेरणा से (मदेम) आनन्द लाभ करें। अन्न से तृप्त हों और सुखी रहें।

इस मन्त्र में सुदासे यह पद किसी व्यक्ति का नाम नहीं है। श्री पं० सातवलेकर जी ने भी 'सुदास्' का अर्थ उत्तम दाता ही किया है। यहां 'सुदासे' षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी का प्रयोग है।

इस स्थान पर सायण ने भी अर्थ किया है—'सुदासे शोभन-दानाय' जनाय— शोभन दान देने वाले जन के लिए।

ठीक इसी प्रकार का मन्त्र ऋ० ७ (सू० ८३। १ ।।) है—

२. युवां नरा पश्यमानास आप्यं प्राचा गव्यन्तः पृथु पर्शवोऽययुः।
दासा च वृत्राहतमार्याणि च सुदासमिन्द्रावरुणावसावतम्॥
(ऋ० ७। ८३। १)

हे (नरा इन्द्रा वरुणा) नेता इन्द्र तथा वरुण (आप्यं पश्यमानासः) बन्धुभाव को देखने वाले और (गव्यन्तः) गौओं और भूमियों की इच्छा करते हुए (पृथुपर्शवः) बड़े बड़े काटने के हथियार लिए हुए (प्राचा ययुः) आगे की ओर, पूर्व दिशा में विजयार्थ जावें। और आप दोनों नेता, (दासा) नाशकारी, प्रजा का क्षय करने वाले और (वृत्रा च आर्याणि) बढ़े हुए, या घेर लेने वाले विद्यमान् शत्रु के सैन्य बलों को (हतम्) नाश करो। हे (इन्द्रा-वरुणा) इन्द्र और वरुण आप दोनों (सुदासम् अवसा अवतम्) उत्तम रीति से कर आदि देने वाले जनपद या राष्ट्र को अपने रक्षाकारी साधन से रक्षा करो। मन्त्र के प्रसंग से यहां सुदास किसी राजा का उल्लेख हो यह विदित नहीं होता। तो भी सायण लिखते हैं—सुदासम् अस्मद् याज्यम् एतत् संज्ञं राजानम्। 'सुदास्' वह जिसका हम यज्ञ कराते हैं, अर्थात् सुदास नामक राजा।

श्री पंडितजी ने इस मन्त्र पर एक मनन करने योग्य टिप्पणी दी है—'दासा', वृत्रा, आर्याणि ये तीनों शब्द नपुंसकलिंग हैं। सुदासम् यह पुल्लिंग है। नपुंसकलिंग प्रयोग क्षुद्र शत्रु का अर्थ बता रहे हैं, इनमें आर्य पद भी नपुंसक लिंग है। यह शत्रुभाव बतलाने के लिए है। (दासानि) विनाश, घात-पात करने वाले शत्रु (वृत्राणि), घेर कर नाश करने वाले शत्रु, (आर्याणि) आर्यों के समान दीखने वाले परन्तु शत्रु के साथ मिले हुए शत्रु ही हैं। अपने आर्य भाई जिस समय शत्रु के साथ मिलते हैं और शत्रु का बल बढ़ा कर अपना नाश करना चाहते हैं, तब तो वे बड़े शत्रु जैसे ही वध्य होते हैं। नपुंसक लिंग में आर्य पद का प्रयोग शत्रु भाव का दर्शक है। जहाँ पुंल्लिग में आर्य शब्द का प्रयोग होगा वहां उसका अर्थ श्रेष्ठ, सज्जन, सत्पुरुष, ऐसा होगा। यह पुल्लिंग और नपुंसक लिंग प्रयोग का भाव पाठक ध्यान में धारण करें।

कई अनुवादकों ने यहां के 'आयाणि' पद का अर्थ आर्य श्रेष्ठ ऐसा अर्थ करके सुदास् के साथ उनकी रक्षा करो ऐसा भाव बताया है। परन्तु यह भाव अशुद्ध है। वैसा अर्थ यहां आर्य पद का होता तो यह पद पुंल्लिग में रहता।

'दासानि' 'सुदास' ये दो पद यहां है, पहला नपुंसक लिंग है, अतः शत्रुभाव बताता है, दूसरा पुंल्लिग में है तथा उसके पूर्व 'सु' लगा है। इसलिए उसका अर्थ अच्छा है। दास शब्द पुंल्लिग होने पर भी उसका अर्थ दुष्ट ऐसा ही है। पर नपुंसक लिंग में प्रयोग होने से वह सर्वथा निन्दनीय समझने योग्य है। इसलिए इस मन्त्र में 'सुदास्' की सुरक्षा और 'दासानि' के विनाश करने की सूचना यहां है। "(देखो वसिष्ठ ऋषि दर्शन पृ० २०६)"।

फलतः पं० जी ने यहां 'सुदास्' शब्द से अच्छा आदमी लिया है, सायण के समान ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं। परन्तु पुंल्लिग नपुंसक लिंग की विवेचना बहुत युक्ति संगत नहीं है। 'आर्याणि' पद की योजना दोनों प्रकार से सम्भव है, क्योंकि 'च' दो बार पढ़ा है। दासा यह पद जब वृत्रा आर्याणि दोनों का विशेषण मान लें तो निश्चय से 'वृत्रा आर्याणि' दोनों पद अपना अभिप्राय 'दुष्ट मारने के योग्य' ही बतलाते हैं। परन्तु प्रत्येक चकार से दो दो पृथक् २ पद जोड़ने से 'आर्याणि च सुदासम्' होने पर 'आर्याणि' का अर्थ उत्तम स्वामिसम्बन्धी सैन्य बल आदि होगा। 'अरेः शत्रोः इदम् आर्यम्' इस व्युत्पत्ति से शत्रु सम्बन्धी सैन्य अर्थ निकलता है। और योजना होगी—'दासा हतम्, वृत्रा च हतम् आर्याणि च हतम्'। नाश करने वालों को मारो, घेरने वाले सैन्यों को मारो और शत्रु संबन्धिनी शेष सेनाएं, जो अभी युद्धादि में सक्रिय योग नहीं ले रही हैं उनको भी मारो। और रक्षा सुदास् की करो, जो प्रजा को सुख देने हारा है।

क्यों 'सुदास्' शब्द व्यक्तिवाची नहीं है। इसका स्पष्टीकरण तब होता है जब इन्द्र वरुण क्या है इसका पता लगे। यदि उनको केवल कल्पित पूजा प्रार्थना के इष्ट देव ही मानलें तो इसका सुसंगत अभिप्राय (अर्थ) नहीं निकलता और मंत्र का आधा अंश निरर्थक सा हो जाता है। क्योंकि कल्पित श्रद्धा भाजन एक या दो या अनेक देवताओं को भी शत्रुओं को मारने नहीं जाना है।

डा० प्रधान की एक नई कल्पना—

डाक्टर सीतानाथ प्रधान एम्, एस-सी., पी. एच्. डी. ने देवता वाचक पदों को निरर्थक माना है। आपका मानना है कि भक्ति में आकर ऋषियों ने राजाओं के कार्यों का उपचार अर्थात् गौण रूप से उसे अपने इष्ट देव का ही कार्य बतलाया है। जैसे सुदास ने शम्बर असुर को मारा। इसे ऋषि इस प्रकार वर्णन करेंगे कि इन्द्र ने सुदास के लिए शम्बर को मारा। यदि यह बात मान ली जाय तो इन्द्र आदि देवताओं के जहां अनेक कार्य सीधे राजाओं से सम्बद्ध रूप में परिगणित हैं, ऐतिहासिक पक्ष के राजा वस्तुतः ऐतिहासिक व्यक्ति हों और उनको मारने आदि का कार्य किसी अन्य के लिए नहीं है तो अवश्य वहां देवता को भी ऐतिहासिक व्यक्ति ही मानना होगा। जैसे अश्वियों ने भुज्यु, तुग्र आदि को गगन व समुद्रगामी नौकाओं से तीन रात, तीन दिन में पार किया, ऐसी दशा में अश्विगण कल्पित निर्वस्तुक देवतामात्र हैं, और तुग्र भुज्यु ऐतिहासिक व्यक्ति रहेंगे। अश्वियों की नौका क्या वस्तु थी, इत्यादि समस्या सुलझाना और जटिल होगी।

फलतः देवतावाचक शब्द, राजा और वृत्र, शत्रु आदि वाचक शब्द दोनों में से यदि एक को निर्वस्तुक काल्पनिक वस्तु माना गया तो दूसरे को भी आप से आप काल्पनिक वस्तु होना पड़ेगा यदि एक ऐतिहासिक है तो दूसरी वस्तु भी ऐतिहासिक होगी। इसलिए जिन विद्वानों ने जहां चाहे ऐतिहासिक नाम मान लिया और जहां

चाहा यौगिक अर्थ कर दिया, जहां चाहा ऐतिहासिक घटना मानली, जहां चाहा आलंकारिक अर्थ कर गये, उनके बहुत बड़ी समस्या सामने आती है, वह यह कि वे किसी एक बात को भी पूरा सिद्ध नहीं कर सकेंगे। यह अवस्था श्री पंडित सातवलेकरजी के 'ऋषि दर्शनों' की है। कोई कारण वे नहीं बतला सके कि तृत्सु ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं, वे तृषा से तृषित व्यक्ति हैं और सुदास् पिजवन का पुत्र विशेष राजा ही लिया जावे, वह उत्तम दानशील पुरुष न लिया जावे। सायण आदि भाष्यकारों ने तो केवल मान रखा है कि हमें मन्त्र का नित्यपक्ष मानना है। और जहां विशेष बुद्धि न चली, वहां वे उनको याज्ञिक, आधिदैविक जो भी पक्ष ठीक जंचा वैसा अर्थ कर दिया और अथवा, यद्वा कहकर दूसरा अर्थ भी दर्शा दिया, आगे पाठक जो भी समझलें। परन्तु भूमिका में अपना स्थिर सिद्धान्त नित्यपक्ष ही रखा है। इससे उनको सब ऐतिहासिक नामों की नित्यपक्षीय व्याख्या अभिमत ही है। यदि नित्यपक्षीय व्याख्या उनको नहीं सूझी तो दूसरे जो व्याख्या करें वह भी उनको अनभिमत नहीं।

अब अगला मन्त्र लीजिए—(ऋ० ७।८३।४) ॥

इन्द्रावरुणा वधनाभिरप्रति भेदं वन्वन्ता प्र सुदासमावतम्।
ब्रह्माण्येषां शृणुतं हवीमनि सत्या तृत्सूनामभवत् पुरोहितिः॥

सायण का अर्थ है—हे (इन्द्रावरुणौ) इन्द्र और वरुण (वधनाभिः) वध करने वाले शस्त्रों से (अप्रति भेदं) अप्राप्त भेद नामक सुदास के शत्रु को (वन्वन्ता) मारते हुए आप दोनों (सुदासम् प्र आवतम्) उत्तम दान देने वाले, सुदास इस नाम के मेरे यज्ञ के यजमान राजा को अच्छी प्रकार रक्षा की है। और (एषां तृत्सूनां ब्रह्माणि हवीमनि शृणुतं अशृणुतम्) इन तृत्सुओं के स्तोत्रों को आपने संग्राम में सुना है। इसलिए (तृत्सूनां पुरो-

हितिः) मेरे यज्ञ के यजमान तृत्सु नाम के लोगों का पुरोहित होना (सत्या अभवत्) सत्य फल का अर्थात् सफल होगया।

इस मन्त्र में 'भेद' नाम के ऐतिहासिक व्यक्ति को सुदास राजा का शत्रु सायण ने माना है। श्री पं० सातवलेकर जी को भेद नामक सुदास राजा का शत्रु कोई ऐतिहासिक व्यक्ति अभीष्ट नहीं है। आप लिखते हैं (वधनाभिः अप्रति भेदं वन्वन्ता) अपने वध करने के साधनों से न बढ़े हुए आपस के भेद का, आपस की फूट का नाश आप दोनों ने किया। और (सुदासं प्रआवतम्) सुदास का संरक्षण किया। (एषां ब्रह्माणि हवीमनि शृणुतं तृत्सूनां पुरोहितिः सत्या अभवत्) इनके स्तोत्र संग्राम में सुने, इस कारण तृत्सु लोगों का पौरोहित्य सफल हुआ।

श्री पं० जी ने तृत्सु का अर्थ-'अभ्युदय की तृषा से तृषित', 'अपने अभ्युदय के लिए प्रयत्नशील' किया है। और उनका पौरोहित्य का तात्पर्य नेतृत्व है। 'ब्रह्माणि' का अर्थ अच्छे वचन हैं। 'भेद' का अर्थ आपसी फूट है। इसका वध अर्थात् फूट डालने वालों का वध करना ही उचित माना है। सुदास् का अर्थ सज्जन किया है। फलतः श्री पंडित जी ने भेद, तृत्सु, सुदास् इन शब्दों में से एक भी ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं माना है। इस प्रकार इतना व्यापक अर्थ लेकर भी श्री पंडित जी ने अपने सुबोध भाष्य में 'आवतम्', 'अभवत्' और 'शृणुतं' क्रियाओं का अर्थ सायण के पीछे चलकर भूतकालिक किया जब कि 'शृणुतं' स्पष्ट लोट् लकार का प्रयोग है, परन्तु आपने विशेष व्याख्या में उक्त तीनों क्रिया पदों का अर्थ आज्ञा लोट का कर दिया है। जैसे (सुदासम्-आवतम्) सज्जनों का संरक्षक हो। (ब्रह्माणि शृणुतम्) अच्छे वचनों का श्रवण करो। (सत्या अभवत्) सफल करके दिखाना चाहिए।

वस्तुतः बात यह है कि वेद की सत्यता का जादू सिर पर चढ़कर बोलता है। पं० जी लाख भूतकाल से प्रभावित हों और उसका प्रथम भूतकालिक ही अनुवाद करें, परन्तु अपने विशेष विवरण भाष्य में वे उन शब्दों का अर्थ पलट देने के लिए बाधित ही होते हैं क्योंकि उनको वे नाम ऐतिहासिक प्रतीत नहीं होते जब वे नाम ऐतिहासिक हैं ही नहीं तब उनके साथ भूतकाल की क्रिया का जोड़ बैठ ही नहीं सकता। इसी नित्य पक्ष की सत्यता को साक्षात् करके व्याकरण ग्रन्थ में पाणिनि उसके पूर्व के इन्द्र, शिव आदि और बाद के पातञ्जलि आदि ने भी 'छन्दसि लुङ् -लुङ् लिटः' ॥ इस सूत्र पर कोई भी आपत्ति नहीं की।

एक और मन्त्र देखिए—

युवां हवन्त उभयास आजिषु इन्द्रं च वस्वो वरुणं च सातये।
यत्र राजभिर्दशभिर्निबाधितं प्र सुदास मावतं तृत्सुभिः सह॥

पण्डित जी का अर्थ—

(उभयासः) दोनों प्रकार के (वस्वः सातये) धन प्राप्त करने के लिए (इन्द्रं वरुणं च युवां) इन्द्र और वरुण तुम दोनों को (आजिषु) उन संग्रामों में (हवन्ते) बुलाते हैं। (यत्र) जिनमें (तृत्सुभिः सह) तृत्सुओं के साथ, (दशभिः राजभिः निबाधितं) दश राजाओं के द्वारा पीडित (सुदासं प्रावतम्) सुदास राजा की तुम दोनों ने रक्षा की।

इस मन्त्र पर श्री पंडित जी ने टिप्पणी दी है—

सुदास् राजा था, जिनके पुरोहित वसिष्ठ थे और उनके सहायक तृत्सु थे, उन पर दस राजाओं का आक्रमण हुआ, ऐसे समय इन्द्र और वरुण ने सुदास् की सहायता की, और दसों आक्रमणकारियों का पराभव किया। इसी तरह करना चाहिए।

इस टिप्पणी में पंडित जी ने स्पष्ट रूप से इतिहास की कथा लिखी है। पूर्व मन्त्रों के समान उन्होंने यहां 'सुदास्' का अर्थ सज्जन और तृत्सु का अर्थ अभ्युदय की तृषा से तृषित, सामान्य व्यक्ति, नहीं लिया।

इस प्रसंग में सायण का लेख है—

उभयासः उभयविधाः सुदाः संज्ञो राजा तत्सहायभूताश्च तृत्सवश्चैवं द्विप्रकारकाः जनाः आजिषु संग्रामेषु युवां हवन्ते।

'सुदास्' राजा और उसके सहायक 'तृत्सु' ये दोनों प्रकार के लोग मित्र और वरुण तुम दोनों को संग्रामों में बुलाते हैं।

इसी प्रकार अगले मन्त्र (ऋ० ७।८३।७) में—

दश राजानः समिता अयज्यवः सुदासमिन्द्रा वरुणा न युयुधुः ॥७॥

(पं० जी०)—

हे इन्द्र और वरुण (अयज्यवः दश राजानः समिताः) यज्ञ न करने वाले दस राजे इकट्ठे हुए, वे तुम्हारी सहायता से (सुदासं न युयुधुः) सुदास राजा के साथ युद्ध न कर सके।

इसी प्रकार अगले (ऋ० ७।८३।८) मन्त्र में—

दाशराज्ञे परियत्ताय विश्वतः सुदास इन्द्रावरुणावशिक्षतम् ॥
श्वित्यंचो यत्र नमसा कपर्दिनो धिया धीवन्तो असपन्त तृत्सवः ॥

(पं० जी)—

हे इन्द्र और वरुण (दाशराज्ञे परियत्ताय) दस राजाओं के संघ द्वारा चारों ओर से घेरे गये (सुदासे अशिक्षतम्) सुदास राजा को तुमने बल दिया (यत्र श्वित्यंचः कपर्दिनः) जहाँ निर्मल जटाधारी (धीवन्तः तृत्सवः) बुद्धिमान् तृत्सु लोग (नमसा धिया असपन्त) नमस्कारपूर्वक किये शुभ कर्म से परिचर्या करते थे।

इस पर विशेष भाष्य (टीका) करते हुए पंडितजी ने लिखा है वसिष्ठ के पौरोहित्य में जटाधारी पवित्र 'तृत्सु' याजक थे। वे सुदास का बल बढ़ाते थे, दस राजाओं के संघ के पास ऐसी यज्ञ की शक्ति नहीं थी।

सायण ने लिखा है—

दाशराज्ञे परियत्ताय दशभिः राजभिः शत्रुभूतैः सर्वतः
परिवेष्टिताय सुदासे राज्ञे अशिक्षतं बलं प्रायच्छतम्।

शत्रु रूप दस राजाओं से घिरे सुदास राजा को तुम दोनों ने बल प्रदान किया।

तृत्सुओं के सम्बन्ध में लिखा है—

'तृत्सवः वसिष्ठशिष्याः एतत्संज्ञाः ऋत्विजः।

'तृत्सु' नाम के वसिष्ठ के शिष्य थे, वे सुदास के ऋत्विज थे।

इन स्थलों में पंडित जी अपनी पहली सब लेखपंक्तियों को भूलकर सायण की दिखाई दिशा से केवल इतिहास को ही मानकर संतोष कर गये हैं। इस बात पर बल देते हैं कि वे दस राजा यज्ञ न करते थे। वे हार गये और सुदास यज्ञ करता था, अतः उसका बल बढ़ गया।

इन अर्थों में सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि वेद मन्त्र में कहीं भी दस राजाओं को शत्रु नहीं लिखा है। परन्तु क्योंकि वेद में 'युयुधुः' युद्ध करते थे यह पद आया है इस कारण युद्ध करने वाले वे दश राजा शत्रु मान लिये गये। इसी कारण (दाशराज्ञे परियत्ताय सुदासे) इन पदों की ठीक संगति न सायण ने लगाई, न श्री पंडित जी ने लगाई।

'दाशराज्ञे' यह पद 'सुदासे' का विशेषण है। दश राजाओं वाले सुदास को ऐसा अर्थ होता है। दस राजाओं से घिरे यह अर्थ

संभव नहीं है। (परियत्ताय) और परियत्त का अर्थ घिरा हुआ नहीं है। सायण ने परिवेष्टित अर्थ किया है। जो सर्वथा धात्वर्थ के विपरीत है। यत्त शब्द के साथ परि उपसर्ग लगा है, यत्त (यत् क्त) का अर्थ है यत्नशील। परियत्त का अर्थ है परितः यत्नशील चारों ओर पराक्रम करने वाला।

दाशराज्ञे का अर्थ दश राजाओं से घिरा नहीं हो सकता। दाशराजन् शब्द का चतुर्थी विभक्ति का एक वचन का रूप है। दाशराजन् का अर्थ है दाशों का राजा या दाश का राजा। सुदास् का विशेषण होने से सुदास् स्वयं दाशों या दाश का राजा होता है। (दशभिः राजभिः) दस राजाओं से ऐसा अर्थ दाशराज्ञे पद को होना असम्भव है। सायण ने शब्द रचना पर थोड़ा सा प्रकाश डाला है, लिखता है—दाशराज्ञे दशशब्दस्य छान्दसो दीर्घः। विभक्ति व्यत्ययः। 'दशभि राजभिः' दश शब्द में छान्दस् दीर्घहोकर दाश शब्द बना है। विभक्तिव्यत्यय होगया है अर्थात् तृतीया बहुवचन के स्थान पर चतुर्थी का एक वचन लगाया है। इसका तात्पर्य है कि वचन व्यत्यय भी हुआ है। दाशराज्ञे में कर्मधारय समास भी है। यह सब अप्रासंगिक खट पट सायण ने ऐतिहासिक संगति बैठाने की की है। यदि सायण की इस व्याकरण प्रक्रिया को मान भी लें तो फिर परियत्ताय यह एक विशेषण सुदासे का और पढ़ा है। उसका अर्थ 'परिवेष्टिताय' घिरा हुआ है, वह भी पूर्वोक्त रीति से धातु के अर्थ से विपरीत है।

वस्तुतः विभक्ति व्यत्यय मानने की आवश्यकता नहीं है। न वचनव्यत्यय मानने की ही आवश्यकता है दशसु राजते इति दशराजा। दश शब्द में छान्दस् दीर्घ होकर दाशराजन् शब्द बना। दशों में जो दीप्त हो। जो दशों में तेजस्वी हो। यह विशेषण 'सुदास्' का होना संभव है। जो उत्तम दानशील पुरुष या उत्तम रीति से शत्रुओं

का नाश करने हारा दसों दिशाओं के बीच में तेजस्वी है और 'परियत्त' चारों और यत्नशील है अपने को सदा तैयार एवं नियन्त्रित रखता हैं, उसको इन्द्र और वरुण (अशिक्षतम्) बल प्रदान करते हैं। अथवा 'दाशराज्ञे' संग्राम है जो दश राजाओं के बीच होता है। अथवा—'दाश दाने' से दाश बनाकर राजा के साथ समास है। (दाश राज्ञे) का अर्थ 'दानशील राजा के लिए' यह अर्थ शक्य है। इससे मन्त्र से पूर्व सायण ने ऋ० ७। ३३। ३—

एवेन्नु कंकं दाशराज्ञे सुदासं प्रावदिन्द्रो ब्रह्मणा वो वसिष्ठाः

इस मंत्र का भाष्य करते हुए दाशराज्ञे का अर्थ किया—दशभिः राजभिः सह युद्धे प्रवृत्ते सति सुदासं राजनम् इन्द्रः प्रावत्। इसी स्थान पर-दश राजानः समिता अयज्यव और दाशराज्ञेपरियत्ताय०

(ऋ० ७। ८३। ७, ८)

इन दोनों मन्त्रों को उद्धृत किया है और वहाँ वचनव्यत्यय आदि कुछ नहीं माना है। दश राजाओं से प्रवृत्तयुद्ध में विजिगीषु, रिपु, उसके मित्र, मित्र के मित्र आक्रन्द पार्ष्णिग्राह और उनके मित्र, मित्रों के मित्र, इस प्रकार १२ राजाओं का संग्राम होता है। इनमें विजिगीषु, रिपु को छोड़कर शेष दश राजा रहते हैं उदासीन को इनमें नहीं गिना जाता है।

तब ये इन्द्र और वरुण कौन हैं यह प्रश्न उठता है—क्या डा० सीत नाथ प्रधान महोदय के अनुसार उनको एक कल्पित देवतामात्र मान लिया जावे और यह सब वर्णन इतिहास वसिष्ठ के शिष्य तृत्सुओं राजा सुदास उसके शत्रु दस राजाओं का मान लिया जावे।

पर यह हो कैसे सकता है वेद तो मित्र और वरुण इन दोनों की विशेष सत्ता स्वीकार करता है। भक्तिमात्र करने या प्रार्थना भर कर लेने के लिये दोनों नाम नहीं है। वेद कहता है—

वृत्राण्यन्यः समिथेषु जिघ्नते व्रतान्यन्यो अभिरक्षते सदा।
हवामहे वां वृषणा सुवृक्तिभिरस्मे इन्द्रवरुणा शर्म यच्छतम् ॥

ऋ० ७।८३।९

इन्द्र और वरुण दोनों में से (अन्यः समिथेषु वृत्राणि जिघ्नते) एक युद्धों में वृत्रों, घेरने वाले शत्रुओं को मारता है और (अन्यः सदा व्रतानि अभिरक्षते) दूसरा सदा व्रतों, अन्य सब नियमव्यवस्था और कामों की रक्षा करता है। हम आप उन दोनों बलशाली व्यक्तियों को उत्तम स्तुतियों से आह्वान करते हैं। वे इन्द्र और वरुण हमें (शम्) सुख प्रदान करें।

इसी प्रकार अन्यत्र भी (ऋ० ७।८५।३) कृष्टीरन्यो धारयति प्रविक्ताः वृत्राण्यन्यो अप्रतीनि। हन्ति एक समस्त प्रजाओं को धारण करता हैं दूसरा बाहर से आने वाले शत्रु बलों को नाश करता है। श्री सातवलेकर जी भी इस स्थल पर स्पष्ट ही 'इन्द्र' से सेनापति और वरुण से राष्ट्रपालक विशेष अधिकारी ही मानते हैं (वसिष्ठ ऋषि दर्शन पृष्ठ २१३)।

अब स्पष्ट हो गया है कि इन्द्र और वरुण ये कोई कल्पित देवता नहीं है जिनके नाम पर केवल यज्ञ में आहुतिमात्र देने से वे सुदास राजा को जिता देते थे। यहां तो रहस्य ही दूसरा है। इस सूक्त के छठे मन्त्र में 'दशभिः राजभिः निबाधितम्' यह विश्लेषण 'सुदास' का है। दश राजाओं से निबाधित, पीडित अर्थात् ये दस राजा जिसके काम में नित्य बाधा या विघ्न करते हैं। और सातवें मन्त्र ('दश राजानः समिता अयज्यवः सुदासं न युयुधुः') वे दस राजा एक साथ आकर भी 'अयज्यु' होकर सुदास के प्रति प्रहार नहीं कर पाते हैं। इन दोनों स्थानों पर दस राजाओं का उल्लेख है। वे दसों अयज्यु हैं उनमें यजन अर्थात् दानशीलता और संगति नहीं है। इस कारण वे 'सुदास' अथात् दानशील सब के मित्र

और परियत्त सर्व प्रकार से यत्नशील सुसज्ज राजा पर प्रहार नहीं कर सकते हैं। सुदास के साथ जब कि

(श्वित्यञ्चः कपर्दिनः धीवन्तः तृत्सवः नमसा असपन्त) उज्ज्वल शस्त्रों से सम्पन्न, उत्तम केशों से युक्त, बुद्धिमान्, उत्तम कर्माभ्यासी तृत्सु, शत्रुओं को युद्ध में हनन करने वाले, अपनी बुद्धि और (नमसा) अन्न, परस्पर आदर, विनय और नमस्-वज्र, शस्त्र बल से (असपन्त) परस्पर समवाय, संगठन बनाकर रहते हैं। इन ही कारणों से 'तृत्सु' शत्रुहिंसक वीर उसके साथ भी समवाय बनाकर रहते हैं।

इस प्रकार सुदास् तृत्सु आदि का इतिहास वेद। मन्त्रों में से आप से आप लुप्त हो जाता है।

सुदास का स्वरूप देखना हो तो (ऋ० ९।८४।४) में देखिए।

अस्मे इन्द्रावरुणाविश्ववारं रयिंधत्तं वसुमन्तम् पुरुक्षुम्।
प्रय आदित्यो; प्रनृता मिनात्यमिता शूरो दयते बसूनि॥

हे इन्द्र हे वरुण ! आप हमें (पुरुक्षुम्) बहुत अन्नयुक्त, (वसुमन्तं) बहुत ऐश्वर्यों और प्रजाओं से सम्पन्न, (विश्ववारं) सब के वरने योग्य, सब कष्टों के निवारक (रयिं धत्तम्) ऐश्वर्य प्रदान करो। (सः आदित्यः) जो सूर्य के समान तेजस्वी और अखण्ड शासननीति में कुशल (अनृता मिनाति) असत्य व्यवहारों को नष्ट करता है, और वह (शूरः अमिता वसूनि दयते) शूरवीर अमित धनैश्वर्य प्रदान करता है।

वस्तुतः सुदास शब्द के भी यहां दो अर्थ हैं, जो असत्य, छल कपट व्यवहारों का नाश करता है, और अमित ऐश्वर्य प्रदान करता है।

'सुदास' शब्द का वेद में ठीक उसी प्रकार प्रयोग है जैसे—

सुवेदाः सुव्रतः, सुशंसः, स्वपा, स्वध्वरः स्वश्वः स्वायुः, सुकर्मा, सुकृत्, सुक्रतुः, सुक्षत्रः, सुत्रामा, सुदंसाः, सुरक्षः, सुदत्रः, सुदानुः, सुदेवः, सुनीतिः, सुनीथः, सुवर्णः, सुपाणिः, सुमित्रः, सुमेधाः, सुभगः,

सुबंधुः, सुपेशाः, सुयुक्, सुशिप्रः, सुसहाः, सुहवः, सुहस्त्यः, इत्यादि।

जैसे ये शब्द विशेष गुणवान् व्यक्तियों के सामान्यतः वाचक हैं। उसी प्रकार 'सुदास्' शब्द भी ऐतिहासिक पुरुष वेद में नहीं है। ध्यान रखिये कि वेद का 'सुदास्' शब्द सकरान्त हलन्त है, जैसे चन्द्रमस् और पौराणिक सुदास् शब्द अकारान्त है जैसे वायस। इसलिए उन दोनों को मिलाकर एक कर देना भारी भूल है।

मन्त्र ८, ९ पर विचार

(ऋ० मं० ७। सू० ६०। मन्त्र ८,९) पर विचार करते हैं।

यद् गोपावददितिः शर्म भद्रं मित्रो यच्छन्ति वरुणः सुदासे।

श्री पंडितजी का अर्थ इस प्रकार है।

(यद् गोपाबद् भद्रं शर्म) जो संरक्षण देने वाला कल्याणपूर्ण सुख (अदितिः मित्रः वरुणः) अदीन मित्र, वरुण अर्यमा आदि देव (सुदासे यच्छन्ति) उत्तम दान करने वाले के लिए देते हैं। (तस्मिन्) उस कर्म में (तोकं तनयं आदधानाः) बाल बच्चों को हम धारण आदि करते हैं, हम उस कर्म में पुत्रों को प्रेरित करते हैं हम (तुरासः) त्वरों से काम करने के समय (देवहेडनं मा कर्म) देवों को क्रोध आने योग्य कर्म कभी न करें।

इस मन्त्र में अदीन मित्र, वरुण आदि देव कौन हैं इस बात को श्री पंडित जी ने टिप्पणी में स्पष्ट किया है कि (देवहेडनं मा कर्म) हम ऐसा कोई कुकर्म अपने हाथ से न होने दें कि जिससे ज्ञानियों को बुरा लगे। अर्थात् श्री पंडित जी की सम्मति में 'देव ज्ञानी' पुरुष हैं। 'सुदास्' का अर्थ तो उत्तम दान करने वाला ही किया है। ये दोनों बातें अब विवदार्ह नहीं है।

तस्मिन्ना तो कंतनयं दधाना मा कर्म देव हेडनं तुरासः॥
ऋ० ७।६०।८॥

सायण ने 'सुदासे' का अर्थ 'सुदानाय' किया है। कोई ऐतिहासिक व्यक्ति वहां अर्थ रूप में नहीं लिया है।

अव वेदिं होत्राभिर्यजेत रिपः काश्चिद् वरुणध्रुतः स ।
परिद्वेषोभिरर्यमा वृणक्तु सं सुदासे वृषणा उ लोकम् ॥
(ऋ० १०। ७।६)

श्री पंडित जी का अर्थ इस प्रकार है।

(होत्राभिः वेदिम् अवयजेत) जो वेदी पर बैठ कर भी वाणी से स्तुति न करे, यजन न करे, (सः वरुणध्रुतः काः रिपः चित्) वह वरुण देव से हिंसित होकर किन किन (अनेक) दुर्गतियों को प्राप्त होता है। अर्थात् उसकी बुरी अवस्था होती है, (अर्यमा द्वेषोभिः परिवृणक्तु) अर्यमा हमें शत्रुओं से दूर रखे। हे (वृष्णौ) बलवान् मित्रावरुणौ (सुदासे उरुं लोकं) उत्तम दान करने वाले के लिए उत्तम स्थान दो। उसकी योग्यता उच्च करदो।

सायण ने इस मन्त्र में भी सुदासे का अर्थ शोभनदानाय किया है कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं लिया है। पंडित जी ने भी नहीं लिया।

इस मन्त्र में 'वृषणा' यह सम्बोधन पद (मित्रावरुणौ) के लिए है। जब उक्त दोनों मन्त्रों में भाष्यकारों की दृष्टि में सुदास् कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है तो मित्रावरुण देवता के इस सूक्त में जिस कारण से वहां ऐतिहासिक व्यक्ति 'सुदास्' नहीं है उसी कारण से इन्द्र वरुण सूक्त में भी वह ऐतिहासिक व्यक्ति क्यों कर हो, यह समझ में नहीं आता।

इन मन्त्रों में वेदि, यज्ञभूमि, भूमि और गृहस्थ पक्ष में स्त्री आदि भी लिये जाने योग्य हैं।

ऋ० मण्डल ७ सूक्त ५३ मन्त्र ३ पर विचार

उतो हि वां रत्नधेयानि सन्ति पुरूणि द्यावापृथिवी सुदासे ।
अस्मे धत्तं यसदस्धोयु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ३ ॥
(ऋ० ७।५३।३)

श्री पं० जी का अर्थ—

हे द्यावा पृथिवी ! (सुदासे) उत्तम दानशील पुरुष को देने के लिए (वां पुरूणि रत्नधेयानि सन्ति) आपके पास अनेक प्रकार के धन हैं। (यूयं अस्कृधोयु असत्) जो बहुत सा धन होगा वह (अस्मे धत्तम्) हमें प्रदान करो (यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पातम्) तुम कल्याण के साधनों से हमारा पालन करो।

इस मन्त्र पर श्री पंडित जी की कोई टिप्पणी नहीं है। ध्यान देने योग्य बात यही है। कि सुदास् शब्द से कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं लिया गया है सारे सूक्त पर पंडित जी प्रायः मौन हैं। द्यौ और पृथिवी कौन पदार्थ यहां लिये जावें इस पर भी कोई निर्देश नहीं है। वेद स्वयं ही निर्देश करता है, कि वे दोनों (बृहती यजत्रे) बड़े विशाल और पूज्य एवं दानशील परस्पर प्रेम से संगत हैं। जिनके (देवपुत्र) पुत्र देव विद्वान् ज्ञानी पुरुष हैं। (मन्त्र १) (पूर्वजे पितरा द्यावापृथिवी) हमसे पूर्व उत्पन्न माता पिता द्यावा पृथिवी हैं (मन्त्र २)

सायण ने स्पष्ट लिखा है........(पितरा पितरौ विश्वस्य मातृपितृभूते द्यावापृथिव्यौ) वे समस्त विश्व के माता पिता द्यौ और पृथिवी हैं। (सुदासे शोभनहविर्दानाय यजमानाय) सुदास् सुन्दर हवि देने वाला यजमान है। सायण को भी ऐतिहासिक सुदास् इस मन्त्र में अभिमत नहीं है।

(ऋ० ७।३३।३) पर विचार—

एवेन्नु कं सिन्धुमेभिस्ततारेवेन्नु कं भेदमेभिर्जघान ।
एवेन्नु कं दाशराज्ञे सुदासं प्रावदिन्द्रो ब्रह्मणा वो वसिष्ठाः ।।

श्री पंडित जी का भाष्य व अर्थ इस प्रकार है—

(एव इत् नु एभिः सिन्धुः कं ततार) इसी प्रकार इन्होंने सिन्धु को सुख से पार किया, (एवं इत् नु एभिः भेदं कं जघान) इसी तरह इन्होंने भेद का नाश सुख से किया। आपस की फूट को

दूर किया (एव इत् नु दाशराज्ञे सुदासं) इसी तरह दाशराज्ञे युद्ध में सुदास को हे (वसिष्ठा :) वसिष्ठो (वः ब्रह्मणा इन्द्रः प्रावत्) आपके स्तोत्र से ही इन्द्र ने सुरक्षित किया।

इस मन्त्र के 'एभिः' पद का अर्थ 'इन्होंने' किया। होना चाहिए 'इन्होंसे,' क्योंकि सिन्धु को पार करने वाला और भेद का नाश करने वाला इन्द्र दाशराज्ञों में अर्थात् दशराजाओं से लड़े जाने वाले युद्ध में सुदास् की रक्षा करता है।

इस मन्त्र में विचारने योग्य बात हैं कि—

(१.) 'भेद' नामक असुर माना जाता है, (२.) दश राजाओं से किये संग्राम में सुदास् की इन्द्र ने रक्षा की (३.) 'वसिष्ठः', 'वसिष्ठाः' कौन हैं ?

भेद नामक असुर की व्याख्या तो स्वयं पंडित जी ने इस स्थल पर करदी है। अर्थात् 'भेद' का अर्थ आपस की फूट है। इन्द्र ने वसिष्ठ के स्तोत्रों से प्रेरित होकर आपस की फूट को दूर किया। (वसिष्ठ ऋषि का दर्शन पृ० ९५) शेष रहा दश राजाओं के साथ सुदास का संग्राम। इस संबंध में पूर्व भी लिख आये हैं। पुनः संक्षेप से लिख देते हैं कि इन्द्र ऐश्वर्य एवं बल का स्वामी दानशील राजा के कल्याण के लिये (सुदासं) उत्तम दानशील प्रजा पुरुषों की रक्षा करे। या विजिगीषु और अरि इन दो के अतिरिक्त इनके मित्र, मित्रमित्र, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राह इन दोनों के भी मित्र और मित्रमित्र इन दश राजाओं के चौमुखे संग्राम में भी (सुदासं प्रावत्) जो उत्तम प्रजा को सुख व धन धान्य दे सके उसकी रक्षा करे। उसको नष्ट न होने दे। इस कार्य में वसिष्ठ अर्थात् सर्वश्रेष्ठ वसु, या वसु=वसी प्रजाओं में श्रेष्ठ शिरोमणि लोग (ब्रह्मणा) वेद के बतलाये ज्ञान के अनुसार कार्य करें।

'तृत्सु' पर विचार—

तृत्सुओं की समस्या के सम्बंध में पूर्व भी (पृष्ठ ८७) में

लिख आये हैं। यहां भी उनका प्रसंग है अतः प्रसंगवश लिखते हैं। क्योंकि यहां तृत्सुओं के सम्बन्ध में एक और रहस्योद्घाटन होने वाला है।

ऋ० मण्डल ७। सूक्त ३३। मन्त्र ५ पर विचार

उद् द्यामिवेत् तृष्णजो नाथितासो दीधयुर्दाशराज्ञेवृतासः।
वसिष्ठस्य स्तुवतः इन्द्रो अश्रोद् उरुं तृत्सुभ्यो अकृणोदु लोकम्॥
(ऋ० ७।३३।५)

श्री पंडित जी का अर्थ इस प्रकार है—

(तृष्णजः वृतासः नाथितासः) तृषित घेरे हुए, उन्नति चाहने वाले वसिष्ठों ने (द्याम् इव) द्युलोक के समान (दाशराज्ञे उत् अदीधयुः) दाशराज्ञ युद्ध में इन्द्र की प्रशंसा गायी (स्तुवतः वसिष्ठस्य इन्द्रः अश्रोत्) स्तुति करने वाले वसिष्ठ का स्तोत्र इन्द्र ने सुन लिया, और उसने (तृत्सुभ्यः ऊरुं लोकम् अकृणोत्) तृत्सुओं के लिए विस्तृत प्रदेश करके दिया। शब्द-शब्दार्थ इस प्रकार कर के पंडितजी आगे विशेष भाष्य या विवरण करते हैं—मानवधर्म—भूखे प्यासे, शत्रुओं से घिरे और अपनी उन्नति चाहने वाले आतुर भक्तों ने प्रार्थना की तो उसको प्रभु सुनते हैं।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि इस मन्त्र में 'वसिष्ठः' का तात्पर्य भक्तमात्र है, जो प्रार्थना करते हैं। इस मन्त्र में उन भक्तों के तीन लक्षण कहे हैं १. (तृष्णजः) भूखे प्यासे, २. (वृतासः) शत्रुओं से घिरे हुए, ३. (नाथितासः) अपनी उन्नति चाहने वाले, इस मन्त्र पर 'तृत्सुओं' के लिए श्री पंडित जी की कोई टिप्पणी नहीं है। परन्तु आपने अन्य मन्त्रों में तृत्सु शब्द को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। जैसे इसी सूक्त के मन्त्र ६ में—

दण्डा इवेद् गो अजनास आसन् परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः॥
अभवच्च पुर एता वसिष्ठः आदित् तृत्सूनां विशो अप्रथन्त॥
(ऋ० ७।३३।६)

श्री पंडित जी का अर्थ ।....(गो-अजनासः दण्डा इव) गौओं को चलाने वाले दंडों के समान (भरताः परिच्छन्ना अर्भकासः आसन्) भरत लोग छोटे और अल्प थे । (तृत्सूनां पुर एता वसिष्ठः अभवत्) उन तृत्सुओं, भरतों का वसिष्ठ पुरोहित हुआ । (आत् इत् तृत्सूनां विशः अप्रथन्त) तब से भरतों की प्रजा बढने लगी । विशेष भाष्य विवरण में (१) गो-अजनासः, गौओं के चलाने के लिये जिस प्रकार डंडे छोटे से बारीक से, निर्बल से होते हैं (२) वैसे ही भरत लोग, परिच्छन्न, अल्प से प्रदेश में रहने वाले, और अर्भक बालक जैसे अप्रबुद्ध होते थे । वे अल्प शक्ति वाले वा शक्तिहीन थे । (३) भरतों ने वसिष्ठ को अपना पुरोहित बनाया, नेता बनाया, (४) तब से भरत लोग बढ़ने लगे, उनका राज्य बढने लगा । आपने तृत्सु-भरतों का विवरण दिया है—तृत्सु और भरत ये नाम एक ही के हैं । भरत जो भरण पोषण होकर बढ़ना चाहते हैं, वे भरत हैं । तृत्सु(तृट्-सु) तृषा से युक्त, अपनी उन्नति की प्यास जिनको सदा लगी रहती है, अपनी उन्नति के लिए जो सदा तृषित से रहते हैं । उनका अगुआ नेता जब 'वसिष्ठ' होता है (वासयति इति वसिष्ठः) जो उत्तम रीति से प्रजाओं का निवास कराता है, प्रजा की उन्नति करने के जिए जो करना आवश्यक है वह ज्ञान जिसके पास है वह वसिष्ठ है, ऐसा पुरोहित भरत लोगों ने किया, तब से वे (विशः अप्रथन्त) प्रजाजन भारतीय लोग बढ़ने लगे, फैलने लगे । यहां 'तृत्सु' प्यासे 'भरताः' भरण करने वाले और 'वसिष्ठः' निवारक, इन शब्दों के श्लेष अर्थ को जानने से मुख्य उपदेश का ज्ञान हो सकता है ।'

इस विवरण में पंडित जी ने १, २, ३, ४, चार टिप्पणी ऐसी दी हैं, कि जिनसे स्पष्ट है कि भरत लोग 'तृत्सु' थे । वसिष्ठ उनका पुरोहित था । वे वसिष्ठ को अग्रणी बनाकर बढ़े । प्रथम मन्त्र से विदित होता है कि 'दाशराज्ञ' युद्ध में तृत्सु भी

सम्मिलित थे। पंडित जी का यह मन्तव्य फिर 'तृत्सु' और भरत शब्दों पर लिखी टिप्पणी से कट जाता है। भरत वे हैं जो भरण पोषण होकर बढना चाहते हैं 'तृत्सु' वे हैं जो उन्नति के प्यासे हैं, 'वसिष्ठ' वे हैं जो प्रजाओं को बसाने में कुशल हैं। उनके नेतृत्व में प्रजा बढ़ती है।

इस टिप्पणी से इतिहास का मूल ही कट जाता है। यह एक नित्य सिद्धान्त निकल आता है। पंडित जी के शब्दों के अनुसार वही वेद का मुख्य उपदेश है। तब स्पष्ट हो गया कि जो कथा या इतिहास-प्रसिद्ध नाम लेकर कथा निकालते हैं वह वेद का मुख्य उपदेश नहीं है। तब आश्चर्य है कि अनेक स्थानों पर जो पंडित जी ने इतिहासपरक घटनाओं को वेद में से निकालने का प्रयास किया है वह अमुख्य और गौण बात के लिए क्यों किया ?

पंडित जी के निकाले इतिहासांशों को हमने यथाशक्ति पंडित जी के ही विवरणों से काटने का प्रयत्न किया है, ऐसा करने का हमारा केवल इतना ही अभिप्राय है कि वेद का मुख्य सत्यांश उपदेश इतना प्रबल है कि जिसकी पंडितजी उपेक्षा नहीं कर कर सके। वह बार बार उनकी लेखनी से मूल अर्थ में या विवरण भाष्य में अवतरित होता जाता है।

अब इस सम्बंध में श्री सायणाचार्य को भी देखिए।

मन्त्र ५ के भाष्य में—

तृष्णजः जाततृष्णः वृतासः तृत्सुभिः राजभिर्वृताः नाथितासः वृष्टिं याचमानाः वसिष्ठाः द्याम् इव आदित्यम् इव इन्द्रं दाशराज्ञे दशानां राज्ञां संग्रामे उत् अदीयुः उददीधयन्। स्तुवतः वसिष्ठस्य स्तोत्रम् इन्द्रः अश्रोत् अशृणोच्च। उरुं विस्तीर्णं लोकं तृत्सुभ्यः राजाभ्यः अकृणोत् अकारोच्च अददाच्च इत्यर्थः।

अर्थ—'तृत्सु' नामक राजाओं से वरे गये, प्यासे वृष्टि की याचना करते हुए वसिष्ठों ने दाशराज्ञ अर्थात् दश राजाओं के

संग्राम में इन्द्र को सर्वोपरि स्थापित किया। वसिष्ठ की स्तुति करते हुए इन्द्र ने उसका स्तोत्र सुना और तृत्सुओं के लिए विस्तृत लोक प्रदान किया।

पंडित जी के और सायण के अर्थों में इतना भेद है कि (वृतासः) का अर्थ पंडित जी ने 'शत्रुओं से घिरे हुए' और सायण ने 'तृत्सु राजाओं से वरण किये हुए वसिष्ठ' ग्रहण किये हैं। तृत्सुओं के विषय में इस स्थल पर सायण ने लिखा है—

तृत्सुभ्यः राजभ्यः। (मन्त्र ५) भरताः तृत्सूनामेव भरता इति नामान्तरेण उपादानम् (मन्त्र ६)। प्रतृदः इति तृत्सव एवमभिधीयन्त नामान्तरेण (मन्त्र १४)।

अर्थात् 'तृत्सु' राजा हैं, 'भरत' नाम तृत्सुओं का ही है। और 'प्रतृद' भी तृत्सुओं का एक नाम है। परन्तु सायण ने ऋ० ७।८३।८ मन्त्र भाष्य में लिखा है।

तृत्सवः वसिष्ठशिष्याः एतत्संज्ञाः ऋत्विजः।

और ऋ० ७।८३।४ के भाग्य में लिखा हैं....

तृत्सूनाम् एतत्संज्ञानां मम याज्यानां पुरोहितः।

सायण के ये लेख असंगत हैं, एक स्थान पर उनको याज्य (यज्ञ करने वाले) क्षत्रिय माना है, जो सुदास के दशराजाओं के युद्ध में सहयोगी थे और तृत्सुओं को भरत माना है, दूसरे स्थान पर तृत्सुओं को वसिष्ठ के शिष्य ऋत्विज माना है। वे दोनों बातें एक व्यक्ति में संघटित नहीं होतीं। अन्य स्थानों में भी 'तृत्सु' शब्द का प्रयोग है, उस पर भी दृष्टि डालना आवश्यक है। जैसे (ऋ० ७।१८।७)

आ पक्थासो भलानसो भनन्तालिनासो विषाणिनः शिवासः।
आ यो नयत् सधमा आर्यस्य गव्या तृत्सुभ्योऽजगन् युधा नृन्॥

(ऋ० ७।१८।७)

श्री पंडित जी ने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है।

(पक्थासः) यज्ञ के लिए हविष्यान्न का पाक करने वाले, (भलानसः) सुन्दर प्रसन्न मुख वाले (अलिनासः) अलिन अर्थात् तप के कारण शीर्ण शरीर, (विषाणिनः) सींग हाथ में लेने वाले खुजली करने के लिए अथवा शत्रु पर प्रहार करने के लिए, हाथ में कृष्ण मृग का सींग लेने वाले (शिवासः) सब जनों का कल्याण करने की कामना मन में धारण करने वाले (अभिनन्त) उस इन्द्र की प्रशंसा करते हैं (यः आर्यस्य सधमाः गव्याः) जो इन्द्र आर्य की साथ रहने वाली गौओं के झुन्डों को (तृत्सुभ्यः आ अनयत्) हिंसक शत्रुओं से वापस लाता है। और उसने (युधा नृन् अजगन्) युद्ध से उन शत्रु के वीरों पर आक्रमण करके उनका वध किया। श्री पंडित जी ने इस मन्त्र पर विशेष टिप्पणी दी है। (१) इन्द्र आर्यों के घरों में घर के साथ रहने वाली गौएं हिंसक शत्रुओं से वापस लाता है और जिसकी थी उनको वापस देता है। राजा का यह कर्तव्य है कि चोर को ढूंढ निकाले और उससे चोरी की वस्तुएं प्राप्त करे और जिसकी थीं उसको वापस देवे। (२) 'अजगन् नृन् युधा' शत्रुओं पर आक्रमण करे शत्रु के वीरों का वध युद्ध में करे।

एक बात ध्यान देने योग्य है कि जिस भूतकाल जैसी क्रिया का रूप देखकर पंडितजी भूतकाल का अर्थ करते हैं वहां सामान्यतः आपने भूतकालिक अर्थ नहीं किया। (आ अनयत्) गायों के झुन्डों को वापस लाता है, यद्यपि 'अजगन्' का पूर्व अर्थ में भूतकालिक अर्थ किया, परन्तु टिप्पणी में (युधा अजगन्) शत्रु के वीरों का वध युद्ध में करे, ऐसा विध्यर्थ के लिङ् का ही अर्थ किया है।

इस मन्त्र में 'तृत्सुभ्यः' पद इतिहास मानने वालों के कथनानुसार अवश्य ऐतिहासिक नाम होना चाहिए। क्रिया भी

भूतकाल की सी है, परन्तु तो भी यहां न तो 'तृत्सु' ही ऐतिहासिक व्यक्ति माने गये न क्रिया ही भूतकाल की मानी। विस्मय है कि सायण ने भी 'तृत्सुभ्यः' का अर्थ किया है 'हिंसकेभ्यः।' और कोई इतिहास या आख्यायिका का उद्धरण भी नहीं दिया है। विस्मय की बात है कि इससे पूर्व के और इसके बाद के मन्त्रों में इतिहास ही इतिहास माना है। 'संधमाः' विशेषण 'गव्याः' का न मानकर सायण ने इन्द्र का विशेषण माना है।

इस प्रकार 'तृत्सुओं' का ऐतिहासिक होना शिथिल हो जाता है। सुदास् के साथ सम्बद्ध 'तृत्सु' उसके सहायक हैं, और ये 'तृत्सु' हिंसक शत्रु हो जाते हैं। ऐसे दो पक्ष मानने का कोई कारण नहीं है। यहां ऐतिहासिक पक्ष की योजना बहुत सुगमता से हो सकती थी।

ऋ० ७। ४८। १३ में 'तृत्सवे' पद पर विचार—

वि सद्यो विश्वा दृंहितान्येषाम् इन्द्रः पुरः सहसा सप्त दर्दः।
व्यानवस्य तृत्सवे गयं भाग् जेष्म पुरुं विदथे मृध्रवाचम्॥

श्री पंडितजी का अर्थ—(एषां विश्वा दृंहितानि पुरः) इन शत्रुओं के सब सुदृढ नगरों के (सप्त सहसा सद्यः विदर्दः) सातों प्राकारों को बल से तत्काल तोड़ दिया। और (आनवस्य गयं तृत्सवे वि भाक्) शत्रुभूत अनुका घर तृत्सु को दे दिया। और हमने (मृध्रवाचं पुरुंजेष्म) असत्यवादी मनुष्यों पर विजय किया।

इस पर दी गई विशेष टिप्पणियां हैं (१) (एषां विश्वादृंहितानि पुरः सप्त सहसा वि दर्दः) इन शत्रुओं के सब किले नगर आदि सब सातों प्राकारों (परकोटों) को अपने बल से तत्काल तोड़ दो। अपना बल इतना बढ़ाओ कि जिससे शत्रु के किले तोड़ना सहज हो जाय। (२) (आनवस्य गयं तृत्सवे वि भाक्) शत्रु के स्थान मित्रों को दो। (३) (मृध्रवाचं पुरुं जेष्म) असत्य-

७

भाषी मनुष्य पर हमारा विजय हो। हम इस तरह उत्तम व्यवहार करते रहें कि जिससे असत् व्यवहार करने वाले का पराजय होता रहे।

भाष्य में श्री पंडित जी ने यह स्पष्ट नहीं किया कि शत्रुओं के किलों को कौन तोड़ दे, शायद इन्द्र पद मूल मन्त्र का भाष्य में छूट गया है। दूसरा 'तृत्सु' का अर्थ मित्र कैसे हुआ। भाष्य में क्रियाओं का भूतकालिक अर्थ करके भी टिप्पणी में दूसरा प्रकार बतलाया है। सायणाचार्य का भाष्य देखिए—

(एषां) इन कवष आदि राजाओं के (विश्वा दृंहितानि) सब दृढ दुर्ग और (पुरः) पुरियां और (सप्त) उनके रक्षा के साधन सात प्राकार, परकोटों को भी (इन्द्रः) इन्द्र ने (सहसा) बल से (सद्यः) शीघ्र ही (वि दर्दः) तोड़ दिये। और (आनवस्य) अनु की सेना का वा अनु के पुत्र का (गयं) गृह या धन (तृत्सवे) तृत्सु नाम के राजा को वा तृत्सुओं के गण को (विभाग्) बांट दिया। इस प्रकार हम इन्द्र की स्तुति करते हुए (विदथे) युद्ध में (मृध्रवाचं पुरुं जेष्म) असत्यवादी पुरु अर्थात् मनुष्य को जीत लें।

इस मन्त्र में पंडित जी 'तृत्सु' पद से मित्र लेते हैं, और सायण ने 'तृत्सु' पद से तृत्सु नाम का राजा या तृत्सु नामक लोगों का गण लिया है। परन्तु 'आनव' पद से अनु की सेना ली है और पुरु जो अनु का भाई था उसे ग्रहण न करके पुरु शब्द से साधारण मनुष्य लिया है। ऐसा भेद करने का कोई कारण विदित नहीं होता।

एक मन्त्र में तो एक बार तृत्सुओं से गौएं इन्द्र ने छीन लीं, दूसरे मन्त्र में 'आनव' का धन 'तृत्सुओं' को दिया, इन्द्र के ये दो विपरीत भाव कोई बुद्धिमान् उचित नहीं मान सकता। अब 'तृत्सुओं' की तीसरी दशा देखिए।

ऋग्वेद मंडल ७। १८। १५। पर विचार

इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणा: आपो न सृष्टा अधवन्त नीची: ।
दुर्मित्रास: प्रकलविन्मिमाना: जहुर्विश्वानि भोजना सुदासे ॥१५॥
(ऋ० ७। १८। १५)

श्री पंडित जी ने इस प्रकार अर्थ किया है।

(एते दुर्मित्रास: तृत्सव:) दुष्टों के साथ मित्रता करने वाले बाधाकारी शत्रु (प्रकलवित्) विशेष कला को जानने वाले (इन्द्रेण वेविषाणा: सृष्टा:) इन्द्र के द्वारा अन्दर घुस कर हटाये गये (आप: न नीची: अधवन्त) जल प्रवाहों के समान नीचे मुंह करके भागने लगे। (मिमाना:) मारे जाने पर (विश्वानि भोजना सुदासे जहु:) सब भोजन साधन रूप धनों को सुदास के लिए छोड़ कर भाग गये।

इस पर पंडितजी की टिप्पणियां....(१) दुष्टों के मित्र विशेषकला निपुण होने पर भी शत्रु ही समझने चाहिए। (२) उनके अन्दर घुस कर उनको नीचे मुंह करके भगाने योग्य घबरा देना चाहिए, (३) ऐसी घबराहट उत्पन्न करें कि भोजन छोड़ कर के भागें।

जिन क्रियापदों को अर्थ करते समय भूतकालिक माना है, मानव धर्म बतलाते हुए उन्होंने क्रियाओं का प्रयोग प्रकार (मूड) बदल दिया है।

इस प्रकार से प्रयोग-प्रकार बदलने से ही ऐतिहासिक पक्ष समाप्त हो जाता है। इस मन्त्र में 'सुदासे' शब्द है। उक्त भाष्य से स्पष्ट है कि तृत्सु लोग (बाधाकारी शत्रु) इन्द्र के भीतर घुस कर मारने से, वे बहते जलों के समान भाग गये और सुदास् के लिए अनेक खाद्य सामग्रियां छोड़ गये।

सायण को भी थोड़ा देख लीजिए।

सायण लिखते हैं--कभी तो इन्द्र ने उनकी रक्षा की, और

कभी इन्द्र द्वारा ही पीडित किये जाते हैं—(एते तृत्सवः) ये तृत्सु लोग (दुर्मित्रासः) दुष्ट मित्र (प्रकलविद्) कला प्रकलाएं जानने वाले होते हैं। (इन्द्रेण वेविषाणाः) इन्द्र से युद्ध के लिए तैयार (सृष्टाः) दौड़ने के लिए तैयार होकर (नीचीः आपः न अधवन्त) नीचे जलों के समान भागते हैं। तब (मिमानाः) सुदास् द्वारा पीड़ित होकर (विश्वानि भोजना) समस्त भोग्य धन (सुदासे राज्ञे जहुः) सुदास् राजा के लिए छोड़ गये।

इस मन्त्र में स्पष्ट है कि ऐतिहासिक पक्ष में 'तृत्सु' लोग सुदास् के विरोधी हैं। सुदास् ने इनको मारा है। वे युद्ध छोड़ कर भाग रहे हैं। परन्तु पूर्व हम दिखा आये हैं वे सुदास् के सहयोगी रहे। ऐसा विरोधी इतिहास किस प्रयोजन को सिद्ध कर सकता है। इसलिए इतिहासपक्ष त्याग कर शब्द-शब्दार्थ या यौगिक अर्थों को निरुक्त के अनुसार लेकर जहां जैसा प्रकरण हो वहां विशेषणों को देखकर अर्थ करना चाहिए। जैसे इस मन्त्र में हिंसाशील तृत्सुओं का कितना उत्तम स्वाभाविक वर्णन है।

(एते तृत्सवः इन्द्रेण सृष्टाः आपः न) जैसे मेघ से फेंके गये पानी हों, वैसे ये हिंसाशील सैनिक भी इन्द्र, ऐश्वर्यवान राष्ट्र वा राजा द्वारा ही पैदा किये गये हैं। इनका स्वभाव भी (वेविषाणाः) युद्धार्थ संगत हो कर (आपः न नीचीः) जैसे जल स्वभावतः नीचे की ओर जाता है वैसे ही ये योद्धागण भी अपने से नीचे, कम बल वाले शत्रु सैन्यों पर (अधवन्त) वेग से जाते हैं। (प्रकलविद्) उत्तम कला—युद्ध कला को जानने वाले द्वारा प्रेरित होकर ये (दुर्मित्रासः) प्रेरित होकर भी (मिमानाः) शत्रु सेनाओं का नाश करते हुए (सुदासे) जो इनको उत्तम रीति से भृति, भोजन वस्त्र आदि देकर पाले उसके लिए (विश्वानि भोजना जहुः) सब प्रकार के ऐश्वर्य प्रदान करते हैं।

किसी वैदिक परम्परा से प्रेरित होकर सायण ने 'तृत्सवः' 'भरताः' लिखा है। यद्यपि धातु प्रकृति से इन दोनों में कोई समानता नहीं है। तो भी भरण पोषण उत्तम रीति से इनका किया जाता है इससे सैनिकवर्ग 'भरताः' कहे जाते हों। इनको हम 'मर्सिनरी फोर्सेज्' कह सकते हैं।

'भरताः' पद यास्क ने 'ऋत्विज' नामों में पढ़ा है, इससे प्रेरित होकर सायण ने एक स्थान पर 'तृत्सुओं' को ऋत्विज भी मान लिया है। यज्ञ और युद्ध के सब नाम समान होने से 'तृत्सु', भरत, सैनिक और ऋत्विजों की समान तुलना हो सकती है।

इसी प्रकार (ऋ० ७।१८।१९) में 'तृत्सवः' पद है। उस पर भी प्रसंगवश विचार करना चाहिए।

आवदिन्द्रं यमुना तृत्सवश्च प्रात्रभेदं सर्वताता मुषायत्।
अजासश्च शिग्रवो यक्षवश्च बलिं शीर्षाणि जभ्रुरश्व्यानि ॥
(ऋ० ७ । १८ । १९)

प्रथम हम श्री पंडित जी का अर्थ प्रस्तुत करते हैं—

(अत्र सर्वताता यः भेदं प्र मुषायत्) इस सर्वत्र फैले युद्ध में जिस इन्द्र ने भेद करने वाले शत्रु का वध किया (तम् इन्द्रं यमुना तृत्सवः च आवत्) उस इन्द्र का रक्षण यमुना और तृत्सुओं ने किया। (अजासः च शिग्रवः यक्षवः च अश्व्यानि शीर्षाणि बलिं जभ्रुः) अज, शिग्रु तथा यक्षु लोगों ने प्रमुख घोड़ों का प्रदान इन्द्र के लिए किया। इस पर आपकी टिप्पणी है (१) 'सर्वताता' सर्वत्र फैलने वाला यज्ञ तथा युद्ध। (२) 'भेदः' समाज में पक्ष-भेद करने वाला शत्रु का मनुष्य (३) 'यमुना' यमन नियमन करने वाला शासक (४) 'तृत्सवः' रुकटों से पार होने वाले वीर (५) 'अजासः' हलचल करने वाले वीर (अर्जात इति

अजः) जो सतत प्रयत्नशील होते हैं। (६) 'शिग्रवः' सत्वर कुशलता से काम करने वाले (७) 'यक्षवः' याजक, यजन करने वाले।

इन टिप्पणियों के अनुकूल अर्थ करने से वेदमन्त्र के अर्थ में कहीं अनित्य इतिहास को स्थान नहीं रहता है। भेद नाम का असुर, अज, शिग्रु और यक्षु ये पूर्वकाल के कोई क्षत्रिय गण, ऐसी कल्पना को भी स्थान नहीं रहता है।

थोड़ा सायण पर दृष्टि डालिए। (अत्र सर्वताता) इस युद्ध में (इन्द्रः भेदं प्रमुषायत्) इन्द्र ने 'भेद' अर्थात् नास्तिक को वा 'भेद' नामक सुदास के शत्रु को मारा (इन्द्रं यमुना आवत्) उस इन्द्र को यमुना ने संतुष्ट किया। अर्थात् यमुना के तीरवासी जनता ने इन्द्र को प्रसन्न किया। (तृत्सवः च आवन्) तृत्सु के पुरुषों ने भी इन्द्र को तुष्ट किया। और (अजासः शिग्रवः यक्षवः) अज, शिग्रु और यक्षु इन जनपदों ने (अश्व्यानि शीर्षाणि) युद्ध में मारे गये घोड़ों के सिर (बलिं जभ्रुः) इन्द्र को बलि उपहार भेंट किये अथवा (अश्व्यानि शीर्षाणि) युद्ध में प्राप्त मुख्य अश्व इंद्र को भेंट किये।

सायण ने यमुना, तृत्सु, अज, शिग्रु, यक्षु ये सब अनित्य ऐतिहासिक पदार्थ लिए हैं। पंडितजी की टिप्पणी ने उनका समाधान किया है। मरे घोड़ों के सिर की बलि देने का समाधान तो स्वयं सायण ने कर दिया है। इसी प्रकार भेद का एक अर्थ नास्तिक किया है। दूसरा अर्थ 'भेद' नाम का सुदास् का कोई शत्रु मान लिया है।

वस्तुतः 'सुदास्' वह राजा है जो अधीन राज्य के कर्मचारियों को भरण पोषण और आजीविका देता है। इन्द्र सेनापति या स्टेट है जिसका राजा भी एक अंग है। भेद आपस की फूट है,

उसका प्रमोष अर्थात् नाश होना आवश्यक है। अज, शिग्रु, यक्षु ये तीन प्रकार के प्रजाजन हैं, अज लोगों को प्रेरणा देने वाले, शिग्रु, शीघ्रता के साधन प्रस्तुत करने वाले, यक्षु परस्पर दान-प्रतिदान, संगति, मैत्री, सद्भाव बनाये रखने वाले ये तीनों राज्य शासन का अपने अश्वों के सिर अर्थात अपनी प्रगति के सर्वश्रेष्ठ पुरुषों के मस्तिष्क राज्य शासन की वृद्धि के लिए प्रस्तुत करें।

ऋ० ७। ३३। १४ के 'प्रतृद्' शब्द पर विचार।

उक्थतृतं सामभृतं बिभर्ति ग्रावाणं बिभ्रत् प्रवदात्यग्रे।
उपैनम् आध्वं सुमनस्यमाना आ वो गच्छाति प्रतृदो वसिष्ठः ॥

श्री पंडितजी का अर्थ....

हे (प्रतृदः) भारत लोगो! (वसिष्ठः आगच्छाति) आपके पास वसिष्ठ आते हैं। (सुमनस्यमानाः एतम् उप आध्वम्) उत्तम मनोभावना से इनका सत्कार करो। यह वसिष्ठ आने पर (अग्रे उक्थभृतं सामभृतं बिभर्ति) पहले से ही नेता होकर उक्थ और साम गायकों को धारण करेंगे। और इन सब को (प्रवदाति) सुना भी देंगे।

इस मन्त्र पर श्री पंडितजी की टिप्पणी है कि भरत निवासियों से इन्द्र ने यह वचन कहा है।

सायण का अभिप्राय भी देखिए सायण लिखते हैं—

प्रतृद इति तृत्सव एव अभिधीयन्ते नामान्तरेण। अर्थात् 'प्रतृद्' नाम से 'तृत्सु' ही कहाते हैं। वह उनका दूसरा नाम है। ऋ० ७।३३।६ मन्त्र पर सायण की 'तृत्सूनाम्' पद पर टिप्पणी है। तृत्सुनामेव राज्ञां भरताः इति नामान्तरेणोपदानम्। तृत्सु राजाओं का 'भरत' नाम से ग्रहण होता है। फलतः तृत्सु, भरत, प्रतृद् तीनों पदों से एक ही वस्तु लेना चाहिए। श्री पंडितजी ने तो भाष्य में

और पिता दोनों का कर्तव्य पालन करता है इसलिए वे भरण किये जाने वाले शिष्य ही 'भरत' हैं भ्रियन्ते इति भरताः। अथवा उक्थानि वेदं ज्ञानानि सामानि सामगानानि वा बिभ्रति इति भरताः।

मंत्र में 'प्रवदाति' क्रिया बतला रही है कि वसिष्ठ वह है जो प्रवचन करता है, वेदों का अध्यापन करता है। आचार्य की उपासना व सत्संग करने का मंत्र में उपदेश और आचार्य शिष्यों को परस्पर शुभ संकल्प मय चित्त होकर रहने का उपदेश है। शिष्यगण का 'भरतत्व' अथर्ववेद के कां० ११। सू० ५। मंत्र ३ में भी स्पष्ट किया गया है।

> आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
> तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुम् अभिसंयन्ति देवाः ॥

उपनयन करता हुआ आचार्य ब्रह्मचारी को अपने गर्भ में (भरण पोषण और रक्षण में) कर लेता है। तीन रात्रियों (दिनों) तक उसको अपने अधीन उदर में माता के समान धारण करता है, उसको उत्पन्न हुए को देखने के लिए देव, विद्वान्गण सब ओर आते हैं।

इस रहस्य को जान लेने के उपरान्त अब पुनः ऋ० १।३३।६॥ मंत्र पर विचार करना उचित है।

> दंडा इवेद्गोअजनास आसन् परिच्छिन्ना भीता अर्भकासः।
> अभवच्च पुर एता वसिष्ठ आदित् तृत्सूनां विशो अप्रथन्त ॥

भरत और तृत्सु अर्थात् विद्यार्थी और ब्रह्मचारी कैसे होते हैं। वे (गो-अजनासः दंडा इव आसन्) गायों या बैलों के हाँकने योग्य दंडों के समान (गो-अजनासः) गो-अजन होते हैं। विद्यार्थी 'गो-अजन' इस प्रकार हैं कि वे 'गौ' 'वाणी', वेद वाणी का ज्ञान प्राप्त करते और उसका अभ्यास बढ़ाते हैं। दंडा 'गो अजन' इसलिए है कि वह गौ और बैल यावत्पशुमात्र का संचालन करता है।

क्षत्रियपरक अर्थ पूर्व लिख आये हैं। क्षत्रिय भी 'गो-अजन' है क्योंकि वे 'गौ' पृथिवी को अपनी वाणी, बल और पराक्रम से प्राप्त करते और उसका शासन करते हैं। दूसरा विशेषण (परिच्छिन्नाः) दंडा इधर और उधर दोनों ओर से कटा और छंटा होता है। विद्यार्थी ब्रह्मचारी भी (परिच्छिन्नाः) माता पिता के घर से टूटकर गुरु गृह में रहते हैं और (अर्भकासः) जैसे दंड शाखा से काटकर छोटा किया होता है, वैसे विद्यार्थी ब्रह्मचारी भी आयु, विद्या और बल में (अर्भकासः) बालक अनुभवहीन होते हैं। उन सबका (पुरः एता) आगे चलने वाला, अग्रणी आचार्य 'वसिष्ठ' है जो सब वसु प्रजाओं में सबसे श्रेष्ठ एवं परम ब्रह्मचारी है। अथर्ववेद कांड ११। सूक्त ५ मंत्र १६।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्विराजति विराट् इन्द्रो भवद् वशी।

आचार्य ब्रह्मचारी है। वह प्रजापति होकर भी ब्रह्मचारी है। प्रजापति सर्वत्र प्रकाश देता है इसी से 'विराट्' कहाता है, वह इन्द्र है, सर्वोपरि वशी है। अस्तु, और उस वसिष्ठ के अग्रनायक होने की दशा में 'तृत्सूनां' तृत्सुओं अर्थात् कानों को खोलने वाले ज्ञान से तृप्त ब्रह्मचारी जनों की (विशः) प्रजाएं, बहुत संख्या में (अप्रथन्त) बढ़ा करती हैं। छात्र ऐसे गुरु के पास बहुत संख्या में आते हैं।

इसी गुरु शिष्य पक्ष से विचार करने पर वसिष्ठ और इन्द्र और सुदास की व्यवस्था भी उत्तम रीति से हो जाती है जैसे—

उद्द्यामिवेत् तृष्णजो नाथितासोऽदीधयुः दाशराज्ञे वृतासः।
वसिष्ठस्य स्तुवत इन्द्रो अश्रोद् उरुं तृत्सुभ्यो अकृणोदुलोकम्॥

(तृष्णजः) ज्ञान पिपासा से उत्पन्न, विद्यार्थिगण (नाथितासः) अज्ञान से पीड़ित वा आशीर्वादों से सम्पन्न होकर 'वसिष्ठ' अपने गुरु द्वारा (वृतासः) वृत अर्थात् व्रतनिष्ठ होकर, विद्यार्थी रूप में चुने जाकर (दाशराज्ञे) दश राजाओं के बीच में वसिष्ठ को (द्याम् इव उद् अदीधयुः) सूर्य के समान सर्वोच्च प्रकाशदायक जानते और देखते हैं। अर्थात् गुरु का पद दश राजाओं से भी अधिक है। इस कारण (वसिष्ठस्य स्तुवतः इन्द्रः अश्रोद्) वसिष्ठ के कहने पर उसके वचन को 'इन्द्र' ऐश्वर्यवान् राजा भी सुनता है, वह वसिष्ठ की बात को टाल नहीं सकता। उसके कथन पर वह इन्द्र, ऐश्वर्य सम्पन्न व्यक्ति (तृत्सुभ्यः उरुं लोकम् अकृणोद्) विद्यार्थियों के लिए विशाल निवास स्थान बनवा देता है।

अधिविद्य संहिता की दृष्टि से हमने यह व्याख्यान किया है। क्षत्रिय व राजपक्ष को पूर्व दिखा आये हैं।

श्री पंडित सातवलेकरजी ने तृत्सु की व्युत्पत्ति, 'तृट्सु' भी की है। मुझे वह व्युत्पत्ति भी संगत प्रतीत होती है 'तृत्+सु'=तृट्सु, तृष् से उत्पन्न। प्यास, तीव्र लालसा, किसी वस्तु को प्राप्त करने की तीव्र उत्कण्ठा को 'तृषा' कहते हैं उसी का पर्याय तृष्णा है। ज्ञान की पिपासा से विद्यार्थी का जन्म होता है, यश और धन की पिपासा से क्षत्रिय का उदय होता है, भोग पिपासा से सामान्य जीव जगत् की उत्पत्ति होती है, ये सभी अपनी अपनी दृष्टि से 'तृत्सु' हैं। ये सब 'तृष्णाज' हैं, तृष्णा से उत्पन्न हैं। वेद इनको 'तृत्सु' कहता है। उक्त मन्त्र 'तृष्णजाः', नाथितासः, वृतासः आदि विशेषण सायण आदि ने वसिष्ठों के लगाये हैं। परन्तु ये विशेषण 'तृत्सुओं' के हैं।

वसिष्ठ की महिमा में ऋ० १। ३३। १४ में उक्थभृत्, सामभृत और ग्रावभृत कहा है। वसिष्ठ के परिग्रह में ये 'ग्रावा' कौन है

इसका वर्णन ऋ० १०। ९४ सूक्त में है। वहाँ उनको 'तृत्सु' न कह कर 'तृदिलाः' कहा है।

इसी प्रकार तृट्सु व्युत्पत्ति पर तृषाम्, तृष्यत्, तृष्यावत्, तृष्वी आदि पदों का अनुसंधान करना चाहिए। स्थानाभाव से यहाँ करना असंभव है। अब हम अपने लेख का उपसंहार करने के लिए उसी प्रकरण पर आजाना चाहते हैं जिस प्रकरण से चले थे। 'सुदास्' उसके पिता पिजवन और उसका प्रसन्न होकर वसिष्ठ को दो सौ गौएँ और दो वधूमान् रथ देना इसका क्या तात्पर्य है।

सुदास, इन्द्र, पिजवन।

हम पूर्व लिख आये हैं कि अनेक स्थानों पर पूर्व के मंडलों में भी सुदास् शब्द का प्रयोग है, और वह इन्द्र का विशेषण होकर आया है। ऋ० ७। १८। सूक्त के मन्त्र २३ से २४ तक जिस सुदास् के दानों का वर्णन है वह निश्चय ही इन्द्र के दान हैं। और इन्द्र ही सुदास् है।

इसके प्रमाण या युक्तियाँ निम्न हैं—

१. यह समस्त १८ वां सूक्त इन्द्र की स्तुति का है। तब सूक्त के समाप्ति में २२, २३ दो ही मन्त्र इन्द्र से भिन्न की स्तुति के क्यों कर हो सकते हैं।

२. २२, २३ मंत्रों के उपरान्त २४, २५ वें दो मन्त्र भी इन्द्र स्तुति के हैं। इसलिए भी २२, २३ मन्त्र अन्य एक तुच्छ मानव के दान की स्तुति के नहीं हो सकते।

३. २२, २३ के पूर्व के २१ वें मन्त्र में भी इन्द्र को बड़ा भारी दानशील कहा है और पीछे के २४ वें मन्त्र में भी इन्द्र को को बहुत बड़ा दानशील और वीर कहा है तब बीच में ये दो मंत्र पिजवन नामक किसी अप्रसिद्ध पिता के पुत्र सुदास् की दान स्तुति कैसे हो सकती है।

४. इस मंडल से पूर्व और पश्चात् के मंडलों में अनेक स्थानों पर सुदास् शब्द का प्रयोग है और वहाँ अनेक स्थानों में सुदास् शब्दों में कल्याण दानशील कहा गया है। तब यह भी वही बात होनी चाहिए दूसरी बात नहीं। अवश्य एक एक मन्त्र पर क्रमशः विचार करते हैं।

ऋ० ७। १८। मंत्र २१ पर विचार—

प्रगृहाद् अममदुस्त्वाया पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः।
न ते भोजस्य सख्यं मृषन्तसूरिभ्यः सुदिनाव्युच्छान् ॥

(पराशरः शतयातुः वसिष्ठः) पराशर, शतयातु और वसिष्ठ (ये त्वायाः) जो तुझे प्राप्त करने की इच्छा से या तेरे हित की इच्छा से (गृहाद् अममदुः) अपने घर से निकल कर भी तेरी ही स्तुति करते हैं, वे (भोजस्य ते) सर्वपालक तेरे (सख्यं न मृषन्त) मित्र भाव या स्नेह भाव, तेरे सखा होने की यथार्थता को नहीं भूलते। और इसी कारण (सूरिभ्यः सुदिना व्युच्छान्) विद्वानों के जीवन में उत्तम दिन भी प्रकट होते हैं।

इस अर्थान्तरन्यास अलंकार से स्पष्ट है कि पराशर, शतयातु और वसिष्ठ तीन प्रकार के सूरि हैं, ये नाम विशेष व्यक्तिवाचक नहीं परन्तु वर्ग या श्रेणी (catagary) को बतलाने वाले शब्द हैं। इसका पर्याप्त विवेचन हम पूर्व कर आये हैं। उसको यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं।

पराशर, शतयातु, वसिष्ठ।

पराशर, शतयातु और वसिष्ठ कौन है इसका विवेचन कुछ तो पूर्व किया है, (पृ० ४३) कुछ पुनः यहाँ करते हैं। 'परा शरः यस्य' जिसके शर, बाण बहुत दूर तक जाते हैं, बाण वेधन का साधन है।

जो बहुत दूर तक वेध सकता है, जिसके तीक्ष्ण बुद्धिरूप बाण दूर तक सोच सकें, ऐसे दीर्घदर्शी विद्वान् को 'पराशर' कहते हैं, श्रेय और प्रेय दोनों में से जो व्यक्ति दीर्घदर्शी नहीं होता वह अपनी अल्पमति या मन्दबुद्धि के कारण प्रेय को ही वरता है। और वह दीर्घदर्शी व्यक्ति श्रेय का ही वरण करता है। जैसे काठक श्रुति है।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।

श्रेय और प्रेय दोनों मनुष्य को प्राप्त होते हैं, उनको पाकर धीर पुरुष विवेक करता है। धीर पुरुष प्रेय की अपेक्षा श्रेय को वरता है, मन्दबुद्धि व्यक्ति प्रेय अर्थात् लौकिक दृष्टि से प्रिय, रुचिकर पदार्थ को योग-क्षेम अर्थात् ऐहलौकिक लाभ और सुख को देखकर ही ग्रहण करता है। ऐसे धीर विवेकी, श्रेयमार्ग के व्यक्ति जो प्रिय लौकिक सुखों का त्याग करते हैं वे ही 'परा शर' कहाते हैं। नमूने के तौर पर नचिकेता वैदिक परिभाषा से 'पराशर' था। क्योंकि उसने—

प्रियान् प्रियरूपांश्च कामान् अभिध्यायन् नचिकतो अति अस्राक्षीः।

अपने प्रिय और प्रिय दीखने वाले काम्य पदार्थों को सब प्रकार से विचार विवेक करके छोड़ दिया। ऐसे व्यक्ति घर (गृह) से दूर वनस्थ होकर प्रभु भगवान् की स्तुति है।

अब 'शतयातु' शब्द पर विचार करते हैं। सायण लिखते हैं। बहूनां रक्षसां शासयिता। जो बहुत राक्षसों को काट गिराता, है, वसिष्ठ के साथ 'शतयातु' का पाठ देखकर सायण को उसके पुत्र 'शक्ति' का विचार आगया। इधर 'पराशर' शब्द पढ़ा था, सब सगे सम्बन्धी व्यक्तियों के नाम एक साथ कल्पित कर लिए गये। परन्तु

नित्य वेद की दृष्टि में इन व्यक्तियों की सत्ता नगण्य है। क्षत्रिय पक्ष में सायण का किया अर्थ ठीक है।

दूसरा अर्थ है 'शतं यातवो यस्य' जिसके पास सौ, सैकड़ों यान मार्ग हैं, यान साधन हैं। जो सैंकड़ों प्रकार से जीवनयापन करने में समर्थ है, सम्पन्न होकर भी जो सांसारिक काम्य सुखों को छोड़कर गृहत्याग कर मुमुक्षु मार्ग या 'देवयान' मार्ग है वह 'शतयातु' है।

तीसरा अर्थ—यातु का अर्थ पीड़ा है, 'शतं यातवो यस्य'। इस सांसारिक लोक में जो सैकड़ों पीड़ाएं अनुभव करता है वह क्षण भर भी इस लोक में बद्ध रहना नहीं चाहता, जो बुद्ध कोटि का होकर दुःख ही दुःखमय जगत् को देखता और उसको हेय समझ कर गृह से प्रव्रजित होकर भी उस सर्वरक्षक प्रभु (भोज) के सख्य को नहीं भूलता।

चौथा अर्थ—'शतं शतवर्षपर्यन्तं यातुः जीवनमार्गो यस्य स शतयातुः'। जो व्यक्ति अपने सौ वर्ष तक जीवन का मार्ग तय कर लेता है, वह 'शतयातु' है। उसको इस शरीररूप गृह को छोड़ना ही है, तब उसके लिए भी उचित है कि इस गृह से रहित होकर सर्व शरण्य सर्व, रक्षक (भोज) सर्वपालक प्रभु के सख्य भाव को विस्मरण न करके अन्तिम घड़ियों में उसका स्मरण करे।

अब 'वसिष्ठ' तीसरा वर्ग है। इस संसार में बसने वले समस्त जीव 'वसु' हैं। उनमें श्रेष्ठ यह मनुष्य ही है वही 'वसिष्ठ' है। मनुष्य में एक से एक उन्नत कोटि के हैं। जैसे मनु का लेख है—

> भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
> बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः॥
> ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
> कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥

भूतों, स्थावर और जंगम जीवों में प्राणी श्रेष्ठ हैं, प्राणियों में बुद्धिपूर्वक विवेक से जीने वाले उत्तम हैं, बुद्धिमानों में भी नर (मनुष्यवर्ग) श्रेष्ठ है और विद्वानों में भी कृतबुद्धि अर्थात् जिन्होंने शास्त्रोक्त कर्मों में ही कर्तव्यता का निश्चय किया है वे श्रेष्ठ हैं, उनमें भी जो वस्तुत: अनुष्ठान करते हैं वे श्रेष्ठ हैं और कर्ताओं में भी ब्रह्म को जानने वाले पुरुष श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार वसुओं में सर्वश्रेष्ठ को 'वसिष्ठ' कहा गया है जिसका लक्षण वेदों में किया गया है। जो संक्षेप से इस प्रकार जानना चाहिए।

वशिष्ठों के वेदोक्त लक्षण

(१) श्वित्यञ्चो मा दक्षिणतस्कपर्दा धियं जिन्वासो अभि प्रमन्दुः।
उत्तिष्ठन् वोचे परि बर्हिषो नॄन् ये दूरादवितवे वसिष्ठाः॥
(ऋ० ७। ३३। १)

(श्वित्यञ्चः) श्वेत, स्वच्छवर्ण वाले, निर्मलचित्त (दक्षिणतः कपर्दाः) दक्षिणमार्ग से सुख प्राप्ति करने वाले अर्थात् उलटे घृणित उपायों से वृत्ति न प्राप्त करने वाले, धी, बुद्धि और कर्म को पूर्ण करने वाले, कृतबुद्धि एवं कर्ता लोग जो (अभि प्रमन्दुः) सदा सबके सन्मुख सुप्रसन्न रहते और साक्षात् प्रभु का स्तवन करते हैं, उन (नॄन्) नेता, नायक सबको सन्मार्ग से लेजाने वालों के प्रति मैं (बर्हिषः परि उत्तिष्ठन् वोचे) अपने आसन से आदरार्थ उठ कर प्रार्थना करता हूं कि वे (वसिष्ठाः) समस्त जीवों में वा ब्रह्मचर्य वास करने वाले वसु ब्रह्मचारियों में सर्वश्रेष्ठ हैं, वे (न मे दूरात् अवितये) मुझ साधारण प्रजाजन एवं छात्रवर्ग से दूर कभी न जावें। सब हम उनके संसर्ग एवं नेतृत्व में रहें।

(२) ऋ० ७। ३३। ३॥ में 'वसिष्ठ' वह है जिनके 'ब्रह्म' अर्थात् वेद ज्ञान से मनुष्य इस भव-सिन्धु को पार करता है, उनकी सहायता से जनता में परस्पर फूट या भेद भाव,

परस्पर के द्वेषों को नष्ट करता है, और जिनके उपदेश से जीव अपने परम प्रभु से भेद अर्थात् पार्थक्य को नष्ट करके, अद्वैत, अद्वितीय 'ब्रह्म' से संपृक्त हो जाता है, जिनके उपदेश से (दाशराज्ञे) दशों इन्द्रियों के घोर सम्मर्द में अपने को सुमार्ग में डाल देनेवाले 'सुदास्' उत्तम साधक को परमेश्वर अपनाकर त्राण करता है। वे व्यक्ति 'वसिष्ठ' कहलाते हैं।

३. जुष्टी नरो ब्रह्मणा वः पितृणाम् अक्षम् अव्ययं न किला रिषाथ ।
यत् शक्करीषु बृहता रवेण इन्द्रे शुष्मम् अदधाता वसिष्ठाः ॥
(७ । ३३ । ४)

हे (नरः) सन्मार्ग में ले चलने हारो ! (वः ब्रह्मणा) आपके वेदोपदेश से (पितृणाम् जुष्टी भवति) पालक माता पिताओं को सन्तोष होता है, मैं आप सबके ऊपर सबका कुलपति (अक्षम् अव्ययम्) अव्यय होकर अपना निरीक्षण करने वाली आंख को निरन्तर क्रियाशील रखता हूं और कार्य संचालन करता हूं। आप लोग (न किल रिषाथ) आघात या पीडा प्राप्त न करो। जब कि हे (वसिष्ठाः) बसु ब्रह्मचारियों में श्रेष्ठ अध्यापक जनो ! (शक्करीषु) शक्करी ऋचाओं के तुल्य शक्ति से संचालन करने योग्य क्रियाओं में (बृहता रवेण) बड़ी उच्चध्वनि से (इन्द्रे शुष्मम्) अपने इन्द्र, बड़े आचार्य के अधीन रह कर बल को (अदधात) धारण करो।

इस मन्त्र को वसिष्ठ का वसिष्ठों (वसिष्ठ पुत्रों) के प्रति वचन माना जाता है। कहते हैं कि मन्त्र का द्वितीय चरण वसिष्ठ ने अपने आश्रम में जाते समय कहा था। यह तो सम्भव है कि वेदज्ञ प्रजापति व कुलपति वसिष्ठ ने इस मन्त्र का उस समय अपने अधीन अन्य अध्यापकों व विद्वानों व पुत्रों को

कभी ऐसे समय उपदेश भी किया हो, जिससे वे अपने कर्तव्य न भूलें। उन्होंने उस समय यह मन्त्र बनाकर बोल दिया हो यह संभव नहीं है। क्योंकि वेद नित्य हैं।

अथवा यदि अव्यय को अविनाशी नित्य वाची मानकर अक्ष का का विशेषण मान लें तो उनका यह कर्तव्य स्पष्ट है। कि वे 'अव्यय अक्ष' नित्य ज्ञानमय शास्त्र, वेदमय चक्षु को कभी नाश न होने दें। अध्यापकों के शक्करी साम में लगने वाले बल के समान ही शक्तिशाली कार्यों में बड़े उच्चकोटि के रव या उपदेश से वे अपने स्वामी इन्द्र, प्रधान आचार्य, कुलपति में विशेष बल उत्पन्न करते हैं। यदि अध्यापक ठीक काम नहीं करें तो मुख्याध्यापक व प्रिंसिपल की व्यवस्था ही कच्ची हो जाती है।

४. त्रयः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतः तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः।
त्रयो घर्मासः उषसं सचन्ते सर्वा इत्तां अनुविदुर्वसिष्ठाः॥
(७।३३।७)

समस्त भुवनों में सूर्य, विद्युत् और अग्नि, तीन तत्व जिस प्रकार जल उत्पन्न करने में कारण हैं, उसी प्रकार समस्त भूतों में वे तीन तत्व सर्वप्रजोत्पादक रेतस् को उत्पन्न करते हैं। जिस प्रकार भुवनों में तीन श्रेष्ठ ज्योतियां सूर्यादि तीन श्रेष्ठ प्रजाएं हैं; क्योंकि उनसे समस्त जीव उत्पन्न एवं प्राणवान् हैं उसी प्रकार ज्ञान ज्योति में प्रमुख तीन प्रजाएं ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य हैं उसी प्रकार जगत् में आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त तीनों वर्णों का विभाग है। जिस प्रकार तीनों ज्योतियां देदीप्यमान होकर 'उषस्' प्राभातिक प्रकाश को उत्पन्न करती हैं, जिससे दिन के आरम्भ में सुप्त जगत् उठता है, उसी प्रकार वे तीन देदीप्यमान तत्त्व किस प्रकार कल्पारम्भ और युगारम्भ और जीव—जीवन का प्रारम्भ

किया करते हैं, इन सब रहस्यों को जो जानते हैं वे ही ज्ञान-विज्ञान-वेत्ता 'वसिष्ठ' हैं।

५. सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः।
वातस्येव प्रजवो नान्येन सोमो वसिष्ठा अन्वेतवे वः॥
(ऋ० ७ । ३३ । ८)

इन ज्ञानी पुरुषों का 'वक्षथः' वचन एवं ज्ञान-प्रवचन-प्रकाश और लोक धारण सामर्थ्य भी सूर्य के समान गंभीर अर्थात् अथाह है, जिस प्रकार (वातस्येव प्रजवः अन्येन अन्वेतवे न) वायु का प्रबल वेग और दूसरा कोई धारण नहीं कर सकता उसी प्रकार इतना बड़ा महान् सामर्थ्य और (प्रजवः) महान् प्रेरणा और संस्था विश्वविद्यालयों और राज्यव्यवस्थाओं आदि का संचालन का सामर्थ्य भी हे विद्वन्, सर्वोत्तम सर्वश्रेष्ठ 'वसु' प्रजाजनो ! दूसरा कोई उठा नहीं सकता।

इस प्रकार वसिष्ठों, विद्वान् आचार्यों, प्राचार्यों, बड़ी बड़ी संस्था के संस्थापकों रूप महापुरुषों—वसिष्ठों के गुण वेद में से बहुत उठाए जा सकते हैं, केवल नमूने के पांच मन्त्रों से ही पाठकों को पर्याप्त तोष होगा। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सब देशों में जब राज्य संचालन, दुष्ट राजा के उपद्रवों का निराकरण और राज्यपरिवर्तन के संकट उपस्थित होते हैं तो विश्वविद्यालयों के अध्यापक, प्राध्यापक लोग ही विज्ञानों का आविष्कार करते हैं, वे ही राज्य की रचना की योजना बनाते हैं, वे ही प्रजा को शिक्षित करते हैं। वे यन्त्रों, कलाओं और सब श्रेष्ठ कार्यों में अग्रसर होते हैं। सब तरफ उन्नति के मार्गों में अग्रसर होने से उनको 'अप्सरस्' पद दिया गया है।

त इन्निण्यं हृदयस्य प्रकेतैः सहस्रवल्शमभि संचरन्ति।
यमेन ततं परिधिं वयन्तोऽप्सरस उपसेदुर्वसिष्ठाः॥(ऋ० ७ । ३३ । ९)

(ते इत्) वे ही (निरायं) गुप्त रहस्य वाले (सहस्रवल्शं) सहस्र शाखाओं वाले वेदमय ज्ञान को (हृदयस्य प्रकेतैः) अपने हृदय के उत्कृष्ट ज्ञानों से (अभि संचरन्ति) प्राप्त करते, उनका अन्यों में भी प्रचार करते हैं। वे (यमेन ततं परिधि वयन्तः) उस नियामक प्रभु की विस्तृत परिधि, सीमा, जन्मावधि को प्राप्त करके (अप्सरसः उपसेदुः) अपसरसों को; हमें प्राप्त होते हैं अथवा 'अप्सु जलेषु ज्ञानेषु कर्मसु च संचरन्ति इति अप्सरसः'।

यम सर्वनियमाक वायु तथा अन्य जगत् के नियामक शक्ति गुरुत्वाकर्षण आदि के विस्तृत क्षेत्र को जानकर उत्तम विद्वान् वसिष्ठ 'अप्सरसः' विद्युत् आदि अनेक शक्तियों को जान लेते हैं।

सायरण लिखते हैं—'वसिष्ठः पूर्वं प्रजापतेरुत्पन्नः देहमुत्सृज्य अप्सरःसु जायेय इति बुद्धिम् अकरोत्'।

वसिष्ठ पहले प्रजापति से उत्पन्न हुआ और देह छोड़ कर उसकी बुद्धि हुई कि अप्सराओं, देवांगनाओं में उत्पन्न होऊं।

कितनी भोली बुद्धि है, इस मन्त्र के आधार पर वसिष्ठ को पुराणों ने वेश्यापुत्र प्रसिद्ध कर रखा है। मान भी लें कि कदाचित् एक वसिष्ठ मरते समय देवांगनाओं में उत्पन्न होने को गया तो क्या यहां वेद ने सब वसिष्ठों को अप्सराओं में उत्पन्न होने भेज दिया। सब वेश्यापुत्र हो गये। समाधान दिया है कि एक वसिष्ठ के लिए भी वह बहुवचन आदरार्थ दिया है। परन्तु, मन्त्र ७ से ९ तक ४ मन्त्र एक साथ हैं, जिनमें बहुत से वसिष्ठों का ही वर्णन है। वह एक वसिष्ठ का वर्णन नहीं है।

अब इन विद्वानों को इन्द्ररूप 'सुदास' से क्या दान मिलता है हम इस अपने पूर्व प्रस्तुत प्रसंग पर आते हैं।

द्वे नप्तुर्देववतः शते गोर्द्वा रथा वधूमन्ता सुदासः ।
अर्हन्नग्ने पैजवनस्य दानं होतेव सद्म पर्येमि रेभन् ॥
(ऋ० ७ । १८ । २२)

यह मन्त्र अग्नि को सम्बोधन कर किया गया है। सायण कहते हैं—'मन्त्र में अग्नि सम्बोधन अवश्य है परन्तु क्योंकि इस मन्त्र का देवता अग्नि नहीं है दूसरा ही देवता है, इसलिए यहां अग्नि पद देवता द्योतक नहीं है। ठीक है। पर यहां अग्नि को सम्बोधन करने की आवश्यकता हुई। वसिष्ठ अग्नि को कह रहा है। किसी भी भाष्यकार ने इस बात का विचार नहीं किया कि इस मन्त्र में वसिष्ठ दान की स्तुति करे और अग्नि का सम्बोधन करे। यहां अग्नि शिष्य के लिए आया है। हे अग्ने ! संनममान ! (निरु०) अंग में झुकने वाला विनीत शिष्य ! हे अर्हन् ! अग्ने ! हे योग्य शिष्य (रेभन्) विद्या को उपदेश करता हुआ विद्वान् (होता इव सद्म) होता, दानशील पुरुष जिस प्रकार अपने घर को या यज्ञकर्ता जिस प्रकार यज्ञगृह को प्राप्त करता है उसी प्रकार मैं (पैजवनस्य सुदासः दानं पर्येमि) पैजवन सुदास के दान को प्राप्त होता हूं। अर्थात् मैं विद्योपदेष्टा इस पर आश्रित हूं। यही मेरा धन्धा है। दान क्या मिला।

१. (द्वे शते गोः) गौओं के अनेक जोड़े, (द्वा रथा) दो रथ, जो (वधूमन्ता) वधू वाले हैं। सुदास् है (देववतः नप्तुः) देववत् का नप्ता।

२. इस मन्त्र में इतनी समस्याएं विचारणीय हैं—

(१) दोसौ गौएं, (२) वधूमान् दो रथ। (३) देववान् कौन है, उसका नप्ता कौन है, और (४) और फिर सुदास् कौन है ? (५) वह पैजवन कैसे, और पिजवन कौन है ?

देववत् का नप्ता पैजवन सुदास्

पहले 'देववतः नप्तुः पैजनाख्यस्य सुदासः' की समस्या पर विचार करेंगे।

यह मैं पूर्व लिख चुका हूं कि 'सुदास्' इन्द्र ही है। यह दान भी इन्द्र का है। देववान् का नप्ता 'सुदास्' है। देववान् = देव जिसके अधीन हैं। देव सर्व प्रकाशमान पदार्थ जिसके अधीन हैं। सब देव 'अग्नि' के अधीन हैं।

अग्निर्वै देवानां गोपाः० । १ । २८ ॥ अग्निर्वैदेवयोनिः । ऐ० १।२२ ॥ अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः । ऐ० १ । २८ ॥ अग्निःसर्वा देवताः । ऐ० २।३ ॥ नै० १ । ४ । ४ । १० शत० १ । ६ । २ । ८ ॥ अग्नेर्वा एताः सर्वास्तन्वो यद्देता (वाय्वादयः) देवताः । ऐ० ३ । ४ । अग्निर्वै सर्वेषां देवानामात्मा । श० १४ । ३ । २ । ५ ॥

उस अग्नि को जैसे 'सहसः सूनुः' कहा गया है, उसे जैसे 'सहसः नपात्' कहा है, उसी प्रकार सुदास इन्द्र को 'देववत् अग्नि का नपात् (नप्ता)' कहा गया है। वह अग्नि का नप्ता, नाती, सम्बन्धी है, इन्द्र विद्युत् है। वह सुदास है। प्रकाश, शक्ति और तोड़-फोड़ के प्रबल काम इस 'सुदास्' के हैं। सुदास् शब्द में से दोनों अर्थ निकलते हैं। शोभन दान देने वाला और उत्तम रीति से खंडन, तोड़-फोड़ करने वाला।

उसको 'पैजवन' क्यों कहते हैं। यास्क कहते हैं—'पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः। पिजवनः स्पर्धनीयजवो वा। अमिश्रीभावगतिर्वा।' पिजवन उसको कहते हैं जिसका जव अर्थात् वेग स्पर्धा करने योग्य हो या अमिश्रीभाव गति अर्थात् जिसकी गति किसी अन्य के मिश्रण अर्थात् संपर्क से न होकर स्वतः हो वा जिसकी गति के साथ किसी की गति का मेल या संपर्क या समता न हो सके, जो बहुत शीघ्र चलने वाला हो। विद्युत् प्रकाश, ताप ये सब

एक ही पदार्थ के रूपान्तर हैं, इनकी गति अति तीव्र है। वर्तमान वैज्ञानिकों के कथनानुसार इनकी गति एक सैकेन्ड में १८६००० मील है। इससे अधिक तीगव्रति, किसी दूसरे तत्व की नहीं है। उस पिजवन का पुत्र 'पैजवन' कहा है। यह पुत्र कहना केवल तद्धित प्रत्यय का स्पष्टीकरणमात्र है। जैसे अग्नि को 'सहसः सूनुः' कहा है इसी प्रकार विद्युत् को जो अतितीव्र वेग वाला है, उसको 'अतिवेगवान् पदार्थ का नप्ता' कहा है, अर्थात् वेगवान् पदार्थ ही उसको उत्पन्न कर सकते हैं, वेगवती जलधारा, वेगवान् वायु, वेगवान् तेल का इंजन, वेग से चक्र चला कर डायनेमो द्वारा बिजली को उत्पन्न करता है, इस प्रकार वेगवान् पदार्थ पिजवन का पुत्र, पैजवन 'सुदास्' इन्द्र अर्थात् विद्युत् पैजवन कहाता है। वह देववत् अर्थात् दीप्तियुक्त अग्नि का ही रूपान्तर है या सम्बन्ध होने से 'देववान् का नप्ता' है।

अब इसके दान का विचार कीजिए। १. द्वे शते गोः। २. वधूमन्ता द्वा रथा।

पहला—यहां शत शब्द बहुवचन है। 'बहुत से' ही इसका अर्थ है। गौ के जोड़े अनेक। गौ क्या? बिजली दो प्रकार की है, धन, ऋण। पोजिटिव। (Positive) और नेगेटिव (Negative) हर स्थान पर जहाँ विद्युत् प्रकट होगी यह दो अंश सर्वत्र विद्यमान होंगे। चुम्बक विद्युत् में नार्थपोल (N.) और साउथपोल (S.) दक्षिण और उत्तर ध्रुव रहेंगे। विद्युत्घटों में पोजिटिव, नेगेटिव नोड् रहेंगे।

मन्त्र में 'गवां द्वे शते' नहीं है। 'गोः द्वे शते' है अर्थात् 'गौ' विद्युत्, गतिशील विद्युत एक ही है। परन्तु उसके प्रकार दो हैं और वे स्थान भेद से अनेक होने सम्भव हैं। इन दो प्रकार की विद्युतों के आधार पर दो प्रकार के रथ संचालित होते हैं एक (N.)

से नार्थ पोल को भगाकर बने, दूसरा (S.) से साउथ पोल भगाकर बने। दोनों प्रकार के रथ वधूमान् अर्थात् वधू, वहन करने की उन दोनों में शक्ति रहेगी। उसमें फिर घोड़ा जोड़ने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

इस प्रकार विचार करने से विद्युत् रूप सुदास् से दान उन विद्वानों को प्राप्त होता है और कोई ऐसी समस्या भी उत्पन्न नहीं होती कि वसिष्ठ महाराज को दो वधुएं किसलिए दी गईं।

अब दूसरे मन्त्र पर विचार करते हैं—

चत्वारो मा पैजवनस्य दानाः स्मद्दिष्टयः कृशनिनो निरेके।
ऋज्रासो मा पृथिविष्ठाः सुदासस्तोकं तोकाय श्रवसे वहन्ति ॥
(ऋ० ७। १८। २३)

पैजवन के उक्त चार दान (स्मदुदिष्टयः) दीखने में उत्तम हैं। (कृशनिनः) सुवर्णादि सम्पन्न हैं, (निरेके ऋज्रासः) शंकारहित मार्ग में अति सरल चाल से जाते हैं। वे (पृथिवी-स्थाः) पृथिवी पर स्थित रह कर (मा तोकम्) पालन करने योग्य बालक के समान मुझको अपने गोद में लिये (तोकाय श्रवसे) उत्तम सन्तान और उत्तम यश प्राप्त करने के लिए (वहन्ति) धारण करें।

परमेश्वर व बड़े उत्तम दानशील सम्राट् आदि के पक्ष में इन मन्त्रों की योजना भी सम्भव है। जिसका निर्देश हमने अपने भाषा भाष्य में किया है। उन पक्षों में भी वधू की कोई अजेय समस्या नहीं आती है और न पैजवन सुदास् ही ऐतिहासिक व्यक्ति बनते हैं। उन पक्षों में स्पर्धा करने योग्य वेग, गति, सच्चरित्र, आचारवान्, अनुकरणीय चरित्रवान् पुरुष के पुत्र दानशील पुरुष के (दानं) सात्विक दान को लेकर अपने सुख शान्ति से रहने योग्य घर में आने का उपदेश है। भिन्न भिन्न क्षेत्र में (द्वे शते गोः)

दो सौ गौ, इसमें गौ शब्द के वाणी, वेद वचन, भूमि आदि अर्थ सुसंगत होते हैं। आचार्य-शिष्य पक्ष में गो का अर्थ वेदवाणी, के अनेक प्रकार से ज्ञान और कर्मकाण्ड से दो प्रकार के व्याख्यान लेने अभीष्ट हैं। गौ का अर्थ आदित्य, संवत्सर होने से अध्यात्म में १०० वर्ष के २०० अयन हो जाते हैं। यह शरीर और लिंग शरीर ये दो रथ होते हैं, अन्तःकरण चतुष्टय चार घोड़े हैं, दो शरीरों में 'चित्' चेतना ही वधू है जो दोनों को वहन करती है। गृहस्थ पक्ष में—दानशील प्रभु के दिये उपलक्षणार्थ दो सौ गौ, दो प्रकार के ढोने और सवारी के रथ, जिन में 'वधू' घोड़ी जुती हों या शुभ गृहवधू ही स्थित हो तो क्या आपत्ति है। उनको लेकर उत्तम गृहस्थ घर में आवे और यश प्राप्त करे, यह आवश्यक नहीं है कि दोनों रथों में एक-एक वधू हो ही, एक पुत्रवधू के रहते हुए भी साथ के सब रथछत्रिन्याय से वधूमान् ही कहाते हैं।

इस प्रकार हमें पर्याप्त सन्तोषजनक आधार इस बात के प्राप्त हैं कि वेद के मन्त्रों में कहीं भी ऐतिहासिक व्यक्तियों का वर्णन नहीं है और न ऐसी जटिल समस्या ही है कि वसिष्ठ बड़े तपस्वी थे वे सुदास् राजा से दो वधू वाले दो रथ क्यों लाये। वे तपस्वी वधुओं का क्या करेंगे।

ऋ० ७। १८ सूक्त के अन्तिम २५ वें मंत्र पर विचार—

सुदास् का पिता दिवोदास

इमं नरो मरुतः सश्चतानु दिवोदासं न पितरं सुदासः।
अविष्टना पैजवनस्य केतं दूणाशं क्षत्रमजरं दुवोयु ॥ २५ ॥
(ऋ० ७। १८। २५)

श्री पंडितजी का अर्थ—

(नरः मरुतः) नेता मरुद् वीरो! (इमं पितरं दिवोदासं न) उसके पिता दिवोदास के समान ही (सुदासः अनु सश्चत)

सुदास् की सहायता करो। (दुवोयु पैजवनस्य केतं अरिष्टन) आशीर्वाद प्राप्त करनेवाले पिजवन के पुत्र सुदास के घर की रक्षा करो। तथा (क्षत्रम् दूणाशम् अजरम्) इसका क्षात्रबल बढ़ता जाय, कभी कम न हो।

टिप्पणी है—१. मरुत (मर-उत्) मरने तक डटकर लड़ते हैं। वे वीर्यमान् पुरुष हैं। वे युद्ध के नेता हैं, युद्ध संचालन की विद्या जानते हैं। वे दाता की सुरक्षा करते हैं।

टिप्पणी में रूपान्तर में—वीर सैनिकों को अन्न, वस्त्र, वृत्ति देने वाला व्यक्ति ही सुदास पंडित जी को अभीष्ट है। वह राष्ट्र का प्रतिनिधि राजा वा राजपद पर स्थित कोई भी है, 'सुदास्' कहावेगा। तब ऐसे व्यक्ति के पिता 'दिवोदास' का भी ऐतिहासिक मूल्य कुछ नहीं रहता। उसका पिता 'दिवोदास' क्यों है। वह ज्ञान का देने वाला होने से 'दिवः दास' है उसका काम सुदास् (राज्यचालक, नायक) को ज्ञान-प्रकाश देना है। वही उसका पिता, जनक, पालक है। वह सर्वोपरि 'केबिनेट' (मन्त्रि-परिषद्) अन्तरंग राजसभा या वसिष्ठ आदि के तुल्य पुरोहित के सिवाय अन्य नहीं हो सकता। वेदमन्त्र के पदों की योजना में रहस्य छिपा है।

श्री पंडित जी के अर्थ में इस (पितरं, दिवोदासं न) उसके पिता दिवोदास के समान ऐसा अर्थ किया है। यहां 'इस'-उसके, ऐसा अर्थ नहीं हो सकता कदाचित् पंडित जी को "सुदासः पितरं दिवोदासं न इमम् (सुदासम्) अनु सश्चत" ऐसी योजना अभीष्ट थी।

अब इस योजना पर विचार कीजिए—(दिवोदासं न) शुभ उत्तम प्रकाश देने वाले सूर्य के तुल्य (इमं) इस सुदास् अथात् प्रजा को ऐश्वर्यों के देने वाले राजा को (पितरं अनु सश्चत) राज्य

का पालक जानकर उसका अनुगमन करो। और (पैजवनस्य सुदासः केतं अविष्टन) सर्वोपरि वेगवान् प्रबल इस उत्तम दाता के ज्ञान और आश्रय को ध्वज के तुल्य प्राप्त करो, सम्पन्न करो और उसकी रक्षा करो। वह (दूनाशं) कभी नाश न हो। उसका (क्षत्रम् अजरम्) बल कभी कम न हो। वह (दुवोयु) आशा और इच्छाओं को पूर्ण करे।

इस प्रकार दिवोदास भी कोई ऐतिहासिक व्यक्ति यहां नहीं प्रतीत होता।

इस निबन्ध संदर्भ को समाप्त करने के पूर्व हम कुछ भौगोलिक नामों पर भी विचार कर लेना चाहते हैं। वसिष्ठ ऋषि के प्रसंग से उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

नदीवाचक सरस्वती आदि शब्दों पर विचार

ऋग्वेद के सप्तम मंडल के ९५, ९६ सूक्त विशेष रूप से सरस्वती देवता के हैं। ऐसे ही अन्य भी वेदों में अनेक स्थानों पर सरस्वती का वर्णन है। सरस्वती क्या पदार्थ है ? मन्त्रों पर विचार करने के पूर्व इसका सामान्य विवेचन कर लेना आवश्यक है। यही बात हमें अन्य नदीवाचक नामों पर कर लेनी चाहिए। नहीं तो केवल यह मानकर कि सरस्वती पद नदी का वाचक है हम वेद के अनेक वाक्यों का अनर्थ और विकृतार्थ कर जावेंगे जैसा हम आगे मन्त्रों और उनके भाष्यकारों के भाष्यों को उद्धृत करके बतलायेंगे। ब्राह्मणकारों का निर्देश है—

वाक् सरस्वती। शत० ७।५।१।३१। वाग् वै सरस्वती पावीरवी। ७।३। ३९॥ अथ यत् स्फूर्जयन् वाचमिव वदन् दहति तदस्य (अग्नेः) सारस्वतं रूपम्। ऐ० ३।४। सा वाक् ऊर्ध्वा उद् आतनोत् यथा अपां धारा संतता एवम्। तां० ब्रा० २०।१४।२॥

जिह्वा सरस्वती । श० । १२ । ९ । १ । १४ ।। सरस्वती हि गौः वृषा पूषा । शत० २ । ५ । १ । ११ ।। सरस्वती (श्रियः) पुष्टिम् (आदत्त) शत० ११ । ४ । ३ । ३ ।। सरस्वती पुष्टिः, पुष्टिपत्नी । तै० २ । ५ । ७ । ४ ।। एषां वै अपां पृष्ठं यत् सरस्वती । नै० १ । ७ । ५ । ५ ।। ऋक्सामे वै सारस्वतौ उत्सौ । तै० १ । ४ । ४ । ९ ।। सरस्वतीति तद् द्वितीयं वज्ररूपम् । कौ० १२ । २।। अथ यत् (अक्ष्योः) कृष्णं तत् सारस्वतम् । शत० १२ । ९ । १ । १२ ।

अथात् (१) वाणी का नाम सरस्वती है। (२) पावीरवी वाग् सरस्वती है (३) अग्नि जब फुर फुर कर जलता है वह वाणी सी बोलता है, वह अग्नि का सारस्वत अर्थात् सरस्वती का रूप है। (४) वह वाणी जब ऊपर फैली तो जैसे जल की धार पसर जाती है उसी प्रकार ही वह भी फैलती है। (५) जिह्वा को सरस्वती कहते हैं (६) सरस्वती नाम गौ (वाणी, रश्मि, पृथिवी, इन्द्रिय) का है, अमावास्या का नाम सरस्वती है। (७) स्त्री (मादा) आदित्य आदि का नाम सरस्वती है। पुरुष (नर) को पूषा कहते हैं (८) सरस्वती लक्ष्मी की पुष्टि को प्राप्त कराती है। (९) सरस्वती पुष्टि है और वही पुष्टि की पालिका है। अथात् वह 'पशु-सम्पदा' है। (१०) अपों, जलों का पृष्ठ सरस्वती कहाता है। (११) ऋग्वेद और सामवेद दोनों सरस्वती के निकास या प्रवाह मार्ग (Osis) हैं। सरस्वती यह दूसरा वज्र का रूप है। (१२) आंखों में जो काला अंश है वह सारस्वत अर्थात् सरस्वती का रूप है।

इस प्रकार वेद का रहस्य बतलाने वाले ब्राह्मण ग्रन्थों में सरस्वती शब्द के १२ अर्थ हैं। इनमें से एक भी अर्थ इस प्रकार का नहीं है जो किसी विशेष देश में बहने वाली सरस्वती नाम की विशेष नदी का निर्देश करता हो। इस आधार पर हमें यह

कहने और मानने में कोई संकोच नहीं है। कि ब्राह्मणकार याज्ञवल्क्य जो व्यासदेव के शिष्य वैशम्पायन का शिष्य अथवा राजा जनक का ब्रह्मोपदेष्टा था, उसके समय तक भी वेद मन्त्रगत 'सरस्वती' पद का अर्थ भूगोल के किसी देश विशेष की सरस्वती नामक नदी का नाम नहीं था। फलतः यह बाद के इतिहास पक्ष के मानने वालों की धांधली प्रतीत होती है और अच्छे अच्छे विद्वान् इस धांधली के शिकार हैं।

वेदों का जो निघण्टु कोष है उसमें सरस्वती को 'वाक्' के ५७ नामों में गिना है। जिनमें गौरी, गन्धर्वी, सेना, सूर्या, नम्ना, शची, सुपर्णी और सरस्वती सभी ऐतिहासिक से प्रतीत होने वाले नाम भी सम्मिलित हैं।

सरस्वती के सम्बन्ध में निघण्टु के भाष्य रूप निरुक्त के कर्ता यास्काचार्य लिखते हैं—'तत्र सरस्वतीत्येतत् नदीवद् देवतावच्च निगमा भवन्ति। तद् यद् देवतावद् तद् उपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः'।

अर्थात् वाणी के नामों में जो सरस्वती नाम है उस नाम के वेद मन्त्र दो प्रकार से हैं एक तो वे जिनमें सरस्वती नदी रूप से कही गई है। दूसरे वे मन्त्र जिनमें सरस्वती को देवता अर्थात् मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय रूप से ही कहा है। अर्थात् उस मन्त्र का जो भी प्रतिपाद्य है वही 'सरस्वती' नाम से कहा है। देवता रूप से जहां सरस्वती का वर्णन है उसका व्याख्यान आगे करेंगे। नदी के रूप में जहां सरस्वती का वर्णन है उसका प्रथम वर्णन करते हैं। यास्क ने (ऋ० ६।६१।२) मन्त्र दिया है। यह सारा सूक्त मनन करने योग्य है।

इयमदाद् रभसमृणच्युतं दिवोदासं बध्र्यश्वाय दाशुषे।
या शश्वन्तमाचखादावसं पणिं ताते दात्राणि तविषा सरस्वति ॥१॥

इस सूक्त पर श्री पंडित जी का भाष्य नहीं है। इसलिए

सायणाचार्य के अनुसार अर्थ लिखते हैं जिससे इसमें ऐतिहासिक अर्थ का भान होता है। इसका ऋषि भरद्वाज है। देवता सरस्वती है।

(इयं सरस्वती) इस सरस्वती ने (दाशुषे वध्र्यश्वाय) हवि देने वाले 'वध्र्यश्व' नाम के ऋषि को (रभसम्) वेग वाला (ऋण-च्युतं) वैदिक देव-ऋषि-पितृ संबंधी और लौकिक ऋण को दूर करने वाला (दिवोदासं अदात्) दिवोदास नाम का पुत्र दिया। जिस सरस्वती ने (शश्वन्तं) बहुत (पणिं) व्यवहार करने वाले बणिये को जो दान नहीं करता था और (अवसं) केवल अपने आपको ही तृप्त करता था, उसको (आचखाद) मार डाला। हे सरस्वति देवि! (ते दात्राणि तविषा) तेरे दिये दान बहुत बड़े २ हैं।

इस अर्थ में ऐतिहासिक अंश यह है कि सरस्वती ने वध्र्यश्व ऋषि को दिवोदास नामक ऋणमोचक पुत्र दिया, दूसरा पणि अर्थात् व्यवहारकुशल बनिये को मारा। ये दो दान महान् हैं। सायण के मत से वध्र्यश्व नाम का ऋषि है। ऐतिहासिक पक्ष के विद्वान् वध्र्यश्व को राजा मानते हैं। दिवोदास को भी राजा मानते हैं। ऋषि तो 'परुच्छेप' और 'प्रतर्दन' हैं, जो दिवोदास के पुत्र थे। अतः सायण का वध्र्यश्व को ऋषि लिखना भ्रमपूर्ण है। राजाओं को राजर्षि कह देना हो सकता है। दूसरा यह 'सरस्वती' विशेष नदी है, वह बेटा देगी, यह बात समझ में नहीं आती। एक प्रकार तो समझ में आता है। कुन्ती ने अपना कानीन पुत्र एक सन्दूक में बन्द करके गंगा में बहा दिया था, एक सारथि ने उसे प्राप्त किया, अपुत्र होने से अपनी स्त्री राधा को दिया उसने पाल पोस कर बड़ा किया। ऐसा महाभारतादि में लेख है। इससे कर्ण राधेय व सूतपुत्र कहाया। तो इस प्रकार गंगानदी

ने सारथि को पुत्र दिया या भवभूति के अनुसार वन में परित्यक्त सीता ने गंगाप्रवाह में पतित होकर पुत्रों को जन्म दिया और वे वाल्मीकि ने प्राप्त किये। क्या इस प्रकार वध्र्यश्व राजा या ऋषि को सरस्वती नदी ने पुत्र दिया था। या जिस प्रकार आजकल तीर्थादि के नाम से जिस तीर्थ में जाने के बाद सन्तान पा लेते हैं उसी तीर्थ या तीर्थगत नदी या घाट के नाम के साथ 'दत्त' या 'दास' लगाकर बालक का नाम रख देते हैं। इससे उनको अपने इष्ट के दिये दान की याद बनी रहती है। क्या उसी प्रकार सरस्वती नदी ने वध्र्यश्व को पुत्र का दान दिया। वेद के मन्त्रों को साक्षात् करने वाले ऋषिगण ऐसे अन्धविश्वासी थे, इसे मानने की हमारी श्रद्धा नहीं है। वेदमन्त्रों में ऐसे अभिप्राय तभी निकाले जाते हैं जब कि वेद के अंगों को वेद से पृथक् करके वेदार्थ को देखने का यत्न किया जाता है।

निरुक्त, व्याकरण का प्रयोग वेद के मन्त्र पर सर्वांगरूप से ही करने पर उसका तत्वार्थ स्पष्ट होता है। इतिहास मानने वाले व्यक्ति वध्र्यश्व दिवोदास आदि शब्दों पर निरुक्त प्रक्रिया का प्रयोग नहीं करते हैं। यह एकांगी शास्त्रीय उपेक्षा उनको कुमार्ग में डाल देती है और फिर इतिहासपरक अर्थ करने के लिए उनको अन्य भी अनेक कुचालें चलनी पड़ती हैं। जैसे—

१. 'वध्र्यश्वाय' पद का न पर्याय दिया गया है न शब्दार्थ, इसी प्रकार 'दिवोदास' पद का भी न पर्याय दिया है, न शब्दार्थ। इसी प्रकार 'सरस्वती' शब्द का भी पर्याय और अर्थ नहीं दिया गया है। ऋषि दयानन्द ने सबसे उत्तम यही बात की है कि जिस वक्र चाल से भाष्य को पढ़ने वाले को अन्धकार में रखा जाता है ऋषि दयानन्द के भाष्य में उसी चाल पर आघात किया है। वह यह कि इन रूढि नामों को निष्पर्याय और निरर्थक नहीं रखा है।

व्यक्ति नाम होजाने पर शब्द का पर्याय और अर्थ दोनों नष्ट होजाते हैं। भाष्य का पाठक मार्गान्तर पर सोचने लगता है।

२. पणि शब्द का अर्थ तो दिया है, परन्तु 'अदातृजनम्' यह नया पर्याय पणि शब्द में से नहीं निकलता है। वह सायण ने अधिक दिया है। क्योंकि सायण की दृष्टि में 'पणि' नामक विशेष असुर वर्ग है। वणिजम्, पणनशीलं। इन पर्यायों से केवल सामान्य दुकानदार महाजन बनिया वर्ग ही लिया जाता है। 'आचखाद' प्रयोग 'खाद भक्षणे' का दिया है। इससे सरस्वती में नाशकारी अर्थ लाया गया है। वस्तुतः 'खद स्थैर्ये' धातु का यह रूप है।

इसी सूक्त का दूसरा मन्त्र नदी वा सरस्वती के वर्णन में उद्धृत किया है। सारा ही सूक्त सरस्वती का है। फलतः नदीवत् सरस्वती के वर्णन करने का तात्पर्य है कि नदी की उपमा देकर सरस्वती का वर्णन किया गया है। न कि कोई नदी विशेष गंगा, जमुना, सिन्ध, ब्रह्मपुत्र आदि के समान यह कोई नदी है जो किसी देश के पूर्व, पश्चिम या उत्तर भाग में बहती थी। इस प्रकार ऐतिहासिक पक्षपात को छोड़कर वेद मन्त्र के अर्थों पर विचार करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में जो १३ अर्थों का निर्देश किया है उसका ध्यान भी पाठक रखेंगे।

मन्त्र का अर्थ—(इयम्) वह सरस्वती, (सरः) प्रशस्त वेग-युक्त नदी जिस प्रकार (वध्र्यश्वाय) अश्व अर्थात् वेग से जाने और फैल जाने वाले जल प्रवाह को रोकने वाले पुरुष को (ऋणाच्युतम्) जल से प्राप्त होने वाला, (दिवः दासम्) तेज प्रकाश, विद्युत् देने वाला (रभसम्) वेग और बल (अददात्) प्रदान करता है और नदी (शश्वन्तम्) निरन्तर चलने वाले (पणिम्) व्यवहार करने योग्य, उत्तम (अवसम्) गति, क्रिया या शक्ति को (आचखाद) स्थिर रखती है, और उस नदी के (तविष्या

दात्राणि) वे नाना प्रकार के बल से उत्पन्न देन हैं, उसी प्रकार (इयम् सरस्वती) यह सरस्वती, वाणी, (वध्र्यश्वाय) इन्द्रिय रूप अश्वों को संयम से बांधकर रहने वाले, जितेन्द्रिय (दाशुषे) अपने आप को उसके निमित्त सर्वात्मना समर्पण करने वाले ज्ञाननिष्ठ पुरुष को (ऋणच्युतम्) ऋषि ऋण, देव ऋण, आदि से मुक्त करने वाले (दिवोदासम्) ज्ञान का प्रकाश देने वाले (रभसम्) कार्य साधक, बल और ज्ञान सामर्थ्य को (अददात्) प्रदान करती है। और (या) जो सरस्वती (सर:) प्रशस्त ज्ञान से सम्पन्न वाणी, वेदवाणी (शश्वन्तम् अवसम्) अनादि काल से विद्यमान नित्य एवं गुरु परम्परा से प्रवाहित होकर तीर्थ (गुरु मुख) से तीर्थ तक बहती हुई (अवसम्) ज्ञान, बल, सामर्थ्य को एवं (पणिम्) व्यवहार साधक, स्तुत्य ज्ञान को (आचखाद) सदा स्थिर बनाये रखती है। यदि वाणी का लोप होजाय तो समस्त ज्ञान भी लुप्त होजाय। उस ज्ञान के आधार पर चलने वाले सहस्रों शिल्प और विज्ञान, विज्ञानाश्रित उद्योग, राज्यचालन, वैद्यक, आदि सब नष्ट होजावें। इसलिए हे वाणि! (ता ते तविषा दात्राणि) वे अनेकानेक महान् बलशाली तेरे दान हैं। पाठकगण उस श्लेष अलंकार पर ध्यान दें जो उच्चकोटि के साहित्य में ही उपलब्ध हो सकता है।

इस शब्दमय वाणी के महान् गुण की प्रशंसा में एक लौकिक कवि ने क्या ही अच्छा कहा है

> इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
> यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥

यदि शब्द (वाणी, वाग्, सरस्वती) नामक ज्योति संसार भर में प्रकाशित न हो तो तीनों लोक में घोर अन्धकार ही अन्धकार हो जाय। वही सरस्वती वास्तव में ऋषियों के हृदय में

प्रकाशित हुई जिसका दर्शन वेद मन्त्रों में किया। और उसी का वर्णन वेद ने सरस्वती नाम से किया है।

इसी प्रकार इस मन्त्र की योजना परमेश्वर और स्त्री पक्ष में भी है। इसी से ऋषि दयानन्द ने सरस्वती को ईश्वर के सौ नामों में भी गिना है। और विवाह प्रकरण में स्त्री को सरस्वती कहा है। काठक गृह्यसूत्र में सारस्वत अनुवाक स्त्री के प्रशंसा में लिखा है। यह वह सरस्वती है जिसका दूसरा नाम वाणी के नामों में ही 'सूर्या' कहा है।

अब निरुक्त में जिस मन्त्र को उद्धृत किया है उस पर विचार करते हैं—

इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत् सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः।
पारावतघ्नी भवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीम् आ विवासेम धीतिभिः॥
(ऋ० ६। ६१। २)

इसका सायण भाष्यानुसार अर्थ इस प्रकार है—सरस्वती देवता रूप और नदी रूप से है। देवता रूप से पूर्व स्तुति करदी है, अब इस ऋचा से नदीरूप सरस्वती की स्तुति ऋचा करती है। (इयं) यह नदी रूप सरस्वती (शुष्मेभिः) अपने शोषणकारी बलों से, (तविषेभिः ऊर्मिभिः) अपने बड़े तरंगों से (गिरीणां सानूनि अरुजत्) तीर से लगे पर्वतों के शिखरों को ऐसे तोड़ डालती है जैसे (बिसखा इव) बिस, भिस या पंजाबी, में, कमल ककड़ी को खोदने वाला तोड़ता है। उस (पारावतघ्नीम् सरस्वतीम्) दूर देश में विद्यमान वृक्षादि यद्वा उस और इस दोनों तटों को नाश करने वाली सरस्वती 'नदी' को (सुवृक्तिभिः धीतिभिः) स्तुतियों और कर्मों से (अवसे) रक्षा के निमित्त (आ विवासेम) सेवा करें।

सायण ने नदी के पक्ष में तो योजना करदी है, परन्तु वाणी के पक्ष में वा प्रभु वा स्त्री पक्ष में इसकी योजना को नहीं दर्शायी

है। वस्तुतः यह भी नदीवत् अर्थात् नदी की उपमा से वाणी और वेदमय, ज्ञानमय प्रभु का वर्णन है। यहां भी वेद मन्त्र में ऐसा कोई निर्देश नहीं है जिससे कुरुक्षेत्र आदि देश की नदी को ले सकें। प्राचीनकाल में सरस्वती नाम से अनेक नदी प्रसिद्ध थीं।

कोई इस नदी को कश्मीर से निकल कर गंगा यमुना के साथ संयुक्त प्रान्त के देश में बहती बतलाता है, जो विनशन स्थान पर लुप्त हो गई है। कोई सरस्वती को राजपूताने में से होकर जाती हुई समुद्र में गिरने से भी पूर्व रेगिस्तान में लुप्त हुआ बतलाता है। कोई सिद्धपुर के पास बहती नदी को 'सरस्वती' कहता है। कोई खंभात के पास उपसागर में गिरती नदी को 'सरस्वती' कहता है। परन्तु जब सरस्वती को नदी मानने वालों का कोई एक सिद्धान्त नहीं, तब वेद की सरस्वती का वे क्या निश्चय कर सकेंगे?

वस्तुतः वेदमय वाणी की योजना इस मन्त्र में इस प्रकार है—कमलककड़ी खोदने वाली स्त्री या पुरुष के तुल्य नदी जिस प्रकार पर्वतों के वने तट को खोद डालती है, उस प्रकार यह सरस्वती उत्तम आनन्दमयी, ज्ञानमयी आत्मा की ज्ञानवती वाणी, (गिरीणां सानु) गिरिवद्, दृढ़, सुमेरु दंड के अंशों के पर्वों को अपनी (तविषेभिः ऊर्मिभिः) बड़ी उर्ध्व ज्ञानमयी दशाओं से (अरुजत्) भंग कर देती है, उनमें भी तीव्र चेतना प्रकट करती है, अज्ञान ग्रन्थियों को तोड़ देती है। वह नदी के तुल्य (पार-अवतघ्नी) परम रक्षामय, सुखमय, आनन्दमय प्रभु पद तक पहुंचा देने वाली है। उस ज्ञानमयी सरस्वती की परिचर्या या सेवन हम (सुवृक्तिभिः) उत्तम स्तुतिमय ऋचाओं और कर्मकांड की इष्टिरूप प्रक्रियाओं से (आ विवासेम) करें, उसका रहस्य ज्ञान प्राप्त करें।

इसी में उस विद्युत्मय सरस्वती शक्ति का भी वर्णन है जो

गिरते समय पर्वतों तक को तोड़ती है, जिसको नीति मंजरी आदि शास्त्र के प्रामाणिक ग्रन्थों में गज-पर्वत-भेदिनी कहा है। वह भी कोई एटम् शक्ति के समान प्रतीत होती है। इसका उपयोग युद्धकालों में भी इस प्रकार किया जा सकता है जैसा वर्तमान में अभी एटम शक्ति के परीक्षणीय बातों में सम्मिलित है। उसको भी वेद में 'पावीरवी वाग्' या 'मध्यमस्थाना वाक्' कहा है। उसका भी प्रवाह नदी के समान वेग से उच्च समता (High Potentiality) से नीची समता की तरफ होता है। उसका उपयोग संग्राम में वेद में विहित है।

यस्त्वादेवि सरस्वत्युप ब्रूते धने हिते।
इन्द्रं न वृत्रतूर्ये ॥ (ऋ० ६। ६१। ५)

हे देवि ! दिव्य शक्ति सम्पन्न सरस्वती ! प्रशस्त वेगवाली, (धने हिते) ऐश्वर्य के निमित्त (त्वा उपब्रूते) तेरा विद्वान् वर्णन करता है और (वृत्रतूर्ये इन्द्रं न) संग्राम में इन्द्र, विद्युत् के समान तेरा वर्णन है।

ऋ० ६। ६१। ६ में सरस्वती को 'वाजेषु वाजिनी' संग्रामों में बलशालिनी कहा है। ऋ० ६। ६१। ७ में इस को घोरा, शत्रुओं को भय देने वाली, हिरण्यवर्तनि, सुवर्ण के समान चमकते हुए रथ या मार्ग से जाने वाली और वृत्रघ्नी—वृत्रों, शत्रुओं को नाश करने वाली कहा है। इन अर्थों में सायण को भी कोई विवाद नहीं है। वह हमारे सुस्तुति उत्तम उपदेश (the right direction) की अपेक्षा करती है। ऋ० ६। ६१। ८। में इसका 'अमः अनन्तः' अनन्त बल कहा है। वह (त्वेषः चरिष्णुः अर्णवः) दीप्तिमान्, सर्वत्र विचरणशील समुद्र के समान व्यापक है, (रोरुवत्)—निरन्तर गर्जनशील है। ऋ० ६। ६१। ११। में लिखा है—वह (पार्थिवानि उरु रजः अन्तरिक्षम् आपप्रुषी) पृथिवी

के बड़े बड़े लोकों और अन्तरिक्ष में सर्वत्र अपने तेज से पूर्ण कर रही है। (६। ६१। १२) वह (त्रिसधस्था सप्तधातुः पञ्च जाता वर्धयन्ती) तीनों लोकों में शरीर के घटक, सात धातुओं और पांचों प्रकार के जीवों को पुष्ट करता है, वह (वाजे वाजे हव्या भूत) अन्न अन्न में खाने योग्य ओज के रूप में या रस के रूप में, देह में ग्रहण करने या खाने योग्य है। उसका वेग ऋ० (६। ६१। १३) में (अपसाम् अपस्तमा) समस्त क्रियाशील जल आदि से अधिक वेग वाला कहा है। उक्त सब मन्त्र नदीवत्, वर्णनपरक होकर भी वेदवाणी और परमेश्वरी शक्ति का भी वर्णन करते हैं। इन मन्त्रों का विस्तृत विवरण यहां स्थानाभाव से हम नहीं करते हैं।

ऋ० ६। ६१। १० में सप्तस्वसा। ६। ६१। ९ में विश्वाः स्वसृः (१२) में सप्त धातवः (१३) में 'अपसाम्' पद हैं। इन पदों के साथ कहीं भी गंगा आदि का प्रकरण नहीं है तो भी सायण ने स्थान स्थान पर (९), स्वसारो भगिन्यः अगाधा नद्यः, (१०) गंगाद्याः सप्तनद्यः स्वसारः, (१२) सप्त धातवः, गंगाद्याः, (१३) अपसाम् वेगवतीनां नदीनाम् इत्यादि अर्थ किये हैं, परन्तु इतने पर भी वह वाक् सरस्वती को सर्वथा भूल नहीं जाता है, जैसे सप्त धातुः (१२ मन्त्र) पर सायण लिखता है—"सप्त धातवो अवयवाः गायत्र्याद्याः यस्याः।" गायत्री आदि छन्दों वाली तो सिवाय वेद वाणी के दूसरी नहीं है। (१० वें मन्त्र में) "सप्त स्वसा गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि स्वसारो यस्यास्तादृशी।" यहां भी वाग् रूपा सरस्वती का ग्रहण है। सायण को इन मन्त्रों में दोनों पक्ष स्वीकार हैं। इसी कारण मन्त्र १० में प्रथम वाग् रूपा का व्याख्यान करके पश्चात् उपमान पक्ष से नदी की योजना बतलाता है—'नदी रूपायास्तु'० फलतः नदी पक्ष को सायण पक्षान्तर और गौण

पक्ष मानता है। इस सब बात को लिखने का हमारा अभिप्राय यह है कि जिस सायण को लेकर ऐतिहासिक पक्ष के विद्वान् अपनी स्थापना करते हैं वह बहुत कच्ची और स्वयं सायण के ही निर्देशों से कटती जाती है।

वसिष्ठ दर्शन के सरस्वती सूक्त पर विचार

अब हम वसिष्ठ दर्शन के सरस्वती देवता के सूक्तों पर विचार करते हैं 'वसिष्ठ ऋषि के दर्शन में ७ वें मण्डल के सूक्त ९५ और ९६ में केवल ९ मन्त्र सरस्वती देवता के हैं और तीन मन्त्र सरस्वान् देवता के हैं। ९५ सूक्त के तीसरे मन्त्र में सरस्वती नाम नहीं है। इन सूक्तों के अतिरिक्त ७ वे मंडल में फुटकर मन्त्र हैं जिनमें सरस्वती पद आता है। ९५, ९६ सूक्तों के पूर्व हम इन टकर मन्त्रों पर पहले प्रकाश डालेंगे।

सरस्वती के मन्त्रों पर विचार करने से पूर्व हम इतना बतलाना चाहते हैं कि सरस्वती को कहीं अग्नि के साथ, कहीं मरुतों के साथ, कहीं सात नदियों के साथ और कहीं अश्वियों और कहीं समस्त देवता के साथ पढ़ा गया है। जहां अन्य देवताओं के साथ पढ़ा है वहां प्रायः नाममात्र पाठ है। विशेष्य विशेषण का वर्णन नहीं है, इसलिए उन पर यहां विचार करना उपयुक्त नहीं है। अनेक स्थलों में सरस्वती को आप्री सूक्तों में पढ़ा है। आप्री सूक्त के देवता अग्नि के रूपान्तर मात्र ही मानना होगा, वहां नदी विशेष मानना अनुपयोगी है। शेष स्थलों पर विचार करना आवश्यक है। नदी रूप से जहाँ स्वतन्त्र सरस्वती का वर्णन है उसका अंशतः विचार हमने कर लिया है। अब स्त्री रूप से, सप्त सिन्धु के बीच में एक होने के रूप में और स्वतन्त्र रीति से पठित सरस्वती के प्रकरणों पर ही हमारा विचार होगा। इसी प्रकार इला, भारती

सरस्वती ये तीन देवियां भी अनेक स्थलों में एक साथ पढ़ी गई हैं, वहां भी सरस्वती देशविशेष की नदी नहीं मानी जा सकती। अब वसिष्ठ ऋषि के दर्शनान्तर्गत सातवें मंडल के सरस्वती शब्द पर विचार प्रस्तुत करते हैं।

ऋ० ७। ९। ५ मन्त्र पर विचार

अग्ने याहि दूत्यं मा रिषण्यो देवाँ अच्छा ब्रह्मकृता गणेन।
सरस्वती मरुतो अश्विनापो यक्षि देवान् रत्नधेयाय विश्वान्॥
(ऋ० ७। ९। ५)

श्री पंडितजी का अर्थ—

हे अग्ने! (दूत्यं) दूत कर्म करने के लिए (देवान् याहि) देवों के प्रति जा। (गणेन ब्रह्मकृता मा रिषण्य:) संघ में रहकर ब्रह्मस्तोत्र करने वाले हम जैसों का नाश न कर। (सरस्वतीम् मरुत: अश्विना अप:) सरस्वती, मरुत्, अश्विनौ और आप: (विश्वान् देवान् रत्नधेयाय यक्षि) विश्व देवों को रत्नों का दान हमें देने के लिए सुपूजित कर।

यहां सरस्वती से क्या पदार्थ लें स्पष्ट नहीं किया है। यहां 'सरस्वती' पद मरुत:, अश्विनौ, आप:, आदि देवों के साथ पढ़ा गया है। यहां सरस्वती नदी नहीं प्रतीत होती। ऋषि दयानन्द ने यहां सरस्वती का अर्थ विद्या शिक्षायुक्त वाणी लिया है और अग्नि, विद्वान् से प्रार्थना है कि वह हमें विद्यायुक्त वाणी, मनुष्य अध्यापक उपदेश और सत्कर्म आदि से रत्न धारण के लिए युक्त करें।

ऋ० ७। ३५। ११ मन्त्र पर विचार—

वह सूक्त 'शंसूक्त' है। उसमें 'शंवती' ऋचाएं हैं। जगत् के सब पदार्थों से शान्ति की कामना की है। इसी प्रकार—

शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु॥

श्री पंडित जी का अर्थ—सब प्रकाशमान, देव हमें शान्ति दें

और सरस्वती (धीभिः सह) बुद्धियों के साथ हम शान्ति दे। श्री पंडितजी टिप्पणी में विवरण करते हैं (सरस्वती) विद्यादेवी (धीभिः) अनेक प्रकार की बुद्धियुक्त कर्मशक्तियों के साथ हमें शान्ति दे। विद्या से बुद्धियां संस्कारसम्पन्न होती हैं। उन बुद्धियों से नाना प्रकार के कर्म करने की शक्तियां बढ़ती हैं, यह सब विद्याक्षेत्र शान्ति स्थापन करने वाला हो। विद्या तथा कर्मशक्ति के बढ़ने से स्पर्द्धा बढ़कर अशान्ति न हो।

यहां श्री पंडित जी ने ऋषि दयानन्द का मत माना और उसे तर्क से पुष्ट किया है।

ऋ० ७। ३६। ६ मन्त्र पर विचार—

आ यत् साकं यशसो वावशाना: सरस्वती सप्तथी सिन्धुमाता।
याः सुष्वयन्त सुदुघा: सुधारा: अभि स्वेन पयसा पीप्याना: ॥

श्री पंडित जी का अर्थ—(सिन्धुमाता सप्तथी सरस्वती) माता के समान सिन्धु नदी और सातवीं सरस्वती (सुधारा: सुदुघा: या सुष्वयन्त) उत्तम प्रवाह वाली, उत्तम दूध देने वाली गौओं से युक्त होकर बहती रहे। (स्वेन पयसा पीप्याना:) अपने जल से भरपूर होकर (याः यशसः वावशाना:) अन्न बढ़ाने की कामना से (साकं अभि आ) साथ साथ बहती रहें।

पंडित जी की टिप्पणी है—सात नदियां हैं इनमें सिन्धु नदी माता है और सातवीं सरस्वती नदी है, इनके तीर पर दुधारू गौएं रहती हैं, अपने जल से वे नदियां भूमि का उपजाऊ गुण बढ़ाती हैं। पर्याप्त अन्न देती हैं।

इस पर सायण का भाष्य देखिए—जिन गंगा आदि नदियों में से (सिन्धु माता) पानियों की माता रूप (सरस्वती) सरस्वती नाम नदी (सप्तथी) सातवीं है। (सुदुघा:) उत्तम काम अर्थात्

संकल्पों को प्रदान करने में खूब समर्थ (सुधाराः) उत्तम धार वाली नदियां बहती हैं। और वे अपने जल से बढ़ाने वाली (यशसः) अन्नवाली (बावशानाः) कामना करती हुई नदियां (साकम् आ) वे एक साथ ही आवें।

दोनों के अर्थों में भेद इतना है (१) कि श्री पंडित जी सिन्धु नदी को माता के समान मानते हैं और सातवीं सरस्वती है। सायण कहता है कि गंगा आदि नदियों में सरस्वती ही बहते पानियों की माता है और वह सातवी है, गंगा आदि ६ और हैं। (२) दूसरा भेद है कि (सुदुघाः) पंडितजी के मत से वे नदियां उत्तम दूध देने वाली गौओं से युक्त हैं। अर्थात् उनके तीर पर दुधारू गौएं रहती हैं। सायण के मत में उत्तम काम अर्थात् संकल्पों को प्रदान करने में समर्थ हैं (कामान् दोग्धुं शक्याः) (३) (यशसः बावशानाः साकम् आ) पंडित जी के मत से वे अन्न बढ़ाने की कामना से एक साथ आती रहें, सायण के अनुसार वे अन्नवाली होकर कामना करती हुई एक साथ आवें। जो थोड़ा सा भेद दोनों के अर्थों में है वह बहुत अन्तर नहीं है। तो भी इतनी समानता है कि यहां सरस्वती विशेष नदी है। पंडित जी के मत में सिन्धु भी इस मन्त्र में विशेष नदी है। पंडित जी सिन्धु को माता के समान मानते हैं और सायण सरस्वती को ही जलों की माता मानता है। 'सरस्वती (सप्तथी) सातवीं तो है परन्तु किन नदियों में सातवीं है।' यह आपने स्पष्ट नहीं किया है। सायण ने गंगा आदि नदियों में सरस्वती को सातवीं मान लिया है। वेद के अनित्य पदार्थ के पक्षपातियों का इतना विवरण पर्याप्त है। मत भेद भी स्पष्ट है। यह किसी ने स्पष्ट नहीं किया कि इस सरस्वती की भौगोलिक स्थिति किस स्थान पर है सायण ने पिछले प्रदर्शित मन्त्रों में गायत्री आदि सात छन्दों को भी परित्याग

स्थापित १९३०

फो. सं. १२२

आर्य साहित्य मण्डल लि०

वैदिक साहित्य के प्रमुख प्रकाशक व विक्रेता

बैंकर्सः– इम्पीरियल बैंक आफ इंडिया
पंजाब नेशनल बैंक लि०
यूनाइटेड कॉमर्शियल बैंक लि०

मैनेजिंग डाइरेक्टर
मथुराप्रसाद शिवहरे

श्रीनगर रोड,

पत्र संख्या..................

अजमेर १८ फरवरी १९५५.

श्रीमान् महोदय,

नमस्ते,

श्रीमानों की सेवा में "क्या वेद में इतिहास है? पुस्तक" भेज रहा हूँ. आप मेरे इस श्रम पर अवश्य दृष्टि पात करेंगे और आद्योपांत अध्ययन करके अपनी शुभ सम्मति अवश्य यथाशीघ्र भेजने की कृपा करेंगे. जिससे उसका उपयोग यथा समय किया जा सके. मैं आपके इस कष्ट का बहुत आभारी हूँगा.

भ व दी य,

जयदेव शर्मा.

नहीं किया था पश्चान्तर में उनको भी वह स्वीकार करता है। यह सायण की विशेषता है।

हमारा विचार है कि यहां न सिन्धु नदी, न सरस्वती नदी है। यह वाणी का वर्णन है। वाणी प्राणरूप सिन्धु माता की सातवीं धारा है। इस प्रकरण को हम आगे 'सप्तनद्यः' शीर्षक देकर अधिक स्पष्ट करेंगे। यहां इतना ही लिखना है कि वेद ने इस वाणी को ही लक्ष्य कर इसी सूक्त के अगले मन्त्र ७। ३६। ७ में 'अक्षरा' नाम से कहा है जिसको श्री पंडित जी और सायण दोनों ने वाणी, अविनाशी चलने वाली वाणी वा सायण के शब्दों में 'अक्षरा' व्याप्ता, चरन्ती वाग्देवता है। मन्त्राक्षर इस प्रकार हैं—

"मा न: परि ख्यद् अक्षरा चरन्ती।"

(अक्षरा) व्यापक वा कभी नाश को प्राप्त न होने वाली, नित्य व्यापक (चरन्ती) विचरणशील, गुरु से शिष्य और वक्ता से श्रोता के पास जाने वाली वाणी (मा नः परिख्यद्) हमारा प्रत्याख्यान न करे, हमें उपदेश वा ज्ञान प्राप्त करने से इन्कार या त्याग न करे अर्थात् हम उसे प्राप्त करने के लिए अपात्र होकर उसे प्राप्त करने के क्षेत्रों से दुत्कार न दिये जावें। इस प्रार्थना का तात्पर्य या महत्व तब अनुभव हो सकता है जब व्यक्तियों या वर्गों, जातियों या देशों को विद्या के क्षेत्र से वंचित किया जाय, या व्यक्ति, वर्ग या देश स्वयं अपनी ऐसी स्थिति पैदा कर लेते हैं कि विद्या उनको प्राप्त नहीं होती, उससे वञ्चित हो जाते हैं। इतिहास बताता है कि सैकड़ों क्षत्रिय और ब्राह्मण वंश ब्राह्मणों के अदर्शन से पतित होगये। वेद में उस पतितावस्था से बचने की प्रार्थना वा उपदेश है।

उक्त मन्त्रों पर ऋषि दयानन्द का भाष्य बहुत उत्तम प्रकाश डालता है।

(सरस्वती) उत्तमा वाणी सप्तमी सप्तमी । (सुदुघाः) सुष्ठुकामान् पूरयित्र्यः (सुधाराः) शोभाना धारा यासां ताः (वावशानाः) कामयमानाः । (पीप्यानाः) वर्धमानाः (सिन्धुमाता) सिन्धूनां नदीनां परिमाणकर्त्री (यशसः) कीर्तेः (स्वेन पयसा) स्वकीयेन उदकेन । अन्वय—हे विद्वांसो । यासां सिन्धुमातेव यद् या सप्तमी सरस्वती वर्तते याः स्वेन पयसा साकं पीप्यानाः नद्यः इव सुदुघाः सुधाराः यशसो वावशानाः विदुष्यः स्त्रियो ऽभिआ सुष्वयन्त, ताः सततं माननीयाः भवन्ति।

अर्थात्—हे विद्वानो ! नदियों का परिमाण करने वाली जैसे बड़ी नदी वैसे सातवीं (पांच ज्ञानेन्द्रिय छटा मन इनके बीच सातवीं उत्तम वाणी है) और जैसे उत्तम अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाली, उत्तम धारा से बहने वाली, अपने जल से भरी पूरी बड़ी नदियां उत्तम २ गति या वेग से जाती हैं, उसी प्रकार जनों की अनेक कामनाओं को पूर्ण करने वाली विदुषी स्त्रियां भी सब कार्यों में सबसे आगे सबसे उत्तम मार्गों से प्रगति करती हैं और निरन्तर मान प्राप्त करती हैं।

ऋषि दयानन्द ने सात का रहस्य भी स्पष्ट कर दिया है—श्लेष से 'सिन्धुमाता' शब्द सरस्वती वाणी का भी विशेषण है। वह सिन्धु अर्थात् निरन्तर प्रवाह रूप से बहने वाले चेतना या ज्ञान धारा का मान अर्थात् ज्ञान कराती है। यदि वाणी न हो तो ज्ञान का प्रकाशन हो नहीं सकता। वह छहों ज्ञानेन्द्रियों के ज्ञानों का प्रकाश करती है, मानो शब्दों से उसको माप २ कर, मित, परिमित शब्दों में प्रकट करती है।

इसी प्रकार ७ । ३६ । ७ मन्त्र में 'अक्षरा चरन्ती' पर ऋषि का लेख है—(अक्षरा अविनाशिनी सकलविद्याव्यापिनी चरन्ती प्राप्नुवन्ती वाक् नः मा परिख्यत् ।) समस्त विद्याव्यापिनी वाणी हमें न वर्जे, ऐसा मरुतः विद्वान् लोग हमारी बुद्धियों और हमारी

सन्तानों को प्रेरित करें और बढ़ावें। यह योजना युक्तिसंगत और साधार है। केवल अदृष्ट देवतावादी और केवल इतिहास भूगोल पक्षवादी इस तथ्य को नहीं कह सकते हैं।

यदि जड़ सरस्वती नदी को मान भी लिया जावे, तो उसका सिन्धुओं की माता बनना गौण होगा; 'वावशानाः कामयमानाः' आदि नदियों के विशेषण व्यर्थ और निराधार होंगे। उनका कोई अभिप्राय नहीं होगा। जब कवि लोग भी अलंकार से कोई बात कहते हैं तो वे जड़ उपमान में चेतनोचित विशेषण उत्प्रेक्षावश देते हैं, वे वस्तुतः चेतन के धर्म को ही चेतन में अधिक स्पष्ट रूप से देख लेने का संकेत करते हैं। जैसे कोई कहे खिले फूलों वाली लता फूलों से देखती है। वह भी वाचक पद का लोप कर देता है, चेतन का देखना धर्म जड़ में आरोपित करता है, 'इव' वाचकपद जोड़ कर पढ़ने से उपमा स्पष्ट हो जाती है। इसी प्रकार मन्त्र में भी वाचक पद 'इव' का योग करने से नदी की उपमा वाणी और विदुषी स्त्रियों में उत्तम रीति से घटती है और चेतनोचित विशेषण भी सफल हो जाते हैं।

ऋ० ७। ३९। ७ पर विचार—

आग्ने गिरो दिव आ पृथिव्या मित्र वह वरुणमिन्द्रमग्निम्।
आर्यमणमदितिं विष्णुम् एषां सरस्वती मरुतो मादयन्ताम्॥

श्री पंडितजी जी का अर्थ इस प्रकार है—

हे (अग्ने दिवः गिरः आ वह) हे अग्ने! तू द्युलोक से स्तुति करने योग्य देवों को ले आ। (पृथिव्याः आ वह) पृथ्वी के ऊपर भी ले आ। मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि, अर्यमा, अदिति, विष्णु को ले आ। (एषां सरस्वती मरुतः मादयध्वम्) इनकी सरस्वती और मरुद्‌गण आनन्दित होकर यहां आवें।

श्री पंडितजी ने टिप्पणी कोई भी नहीं दी और वरुण,

इन्द्र, अग्नि, अर्यमा, अदिति, विष्णु और मरुतः क्या हैं ? इनमें से सरस्वती कौन है ? अग्नि इनको द्युलोक से पृथिवी पर कहां लावे इत्यादि कुछ भी स्पष्ट नहीं किया है।

अन्य मन्त्रों में श्री पंडितजी ने मरुतों को वीर, देवों को विबुध, सज्जन आदि नामों से टिप्पणियों में स्पष्ट किया है। यदि वही बात दृढ़ मान ली जाय तो सरस्वती भी कोई विदुषी ही सिद्ध होगी, मित्र, अर्यमा आदि देवगण राज्य में स्थित विद्वान् सत्ताधर व्यक्ति ही नियत होंगे और सरस्वती नदी की भ्रामक धारणा आपसे आप लुप्त हो जावेगी।

सायण के और पंडित जी के अर्थों में भेद नहीं के बराबर है। इस अर्थ में त्रुटि यह है कि अग्नि देव द्युलोक और पृथ्वी लोक से स्तुति करने योग्य देवों को यहां लावे। सरस्वती और मरुद्गण भी आनन्दित हों, इन अर्थों में 'गिरः' पद का अर्थ 'वाचः' नहीं करके "गरणीयान् स्तुत्यान् देवान्" अर्थ किया है। 'मादयन्ताम्' का अर्थ "माद्यन्तु" किया है, परन्तु इतनी क्लिष्ट कल्पना करने का कारण विदित नहीं होता। ऋषि दयानन्द ने (गिरः) सुशिक्षिताः वाचः (मादयन्ताम्) 'आनन्दयन्तु' अर्थ करके किसी क्लिष्ट कल्पना का आश्रय नहीं लिया। (सरस्वती) विद्यायुक्ता वाणी लिया है और अग्नि, विद्वान् के कर्तव्य का वर्णन किया है, वह आकाश और पृथिवी के सम्बन्ध की उत्तम शिक्षा युक्त विद्याओं को हमें प्राप्त करावे, वरुण, इन्द्र, अग्नि, अर्यमा आदि विद्वानों, दिव्य जनों की ज्ञानवाणियां स्वयं जानकर हमें भी प्राप्त करावे। (मरुतः) विद्वान्गण भी इस विद्या की शिक्षा देकर हमें आनन्दयुक्त करें। कोई असंगति नहीं है। यहां सब देवों के बीच में सरस्वती पद पढ़ा होने से यह विशेष नदीवाचक पद तो नितरां होना संभव नहीं है। सायण ने भी इस मन्त्र में

(सरस्वती) 'वाग् देवता' लिखा है । पंडित जी ने इसको भ्रमपूर्ण ही रखा है ।

ऋ० ७ । ४० । ३ मन्त्र पर विचार—

सेदुग्रा अस्तु मरुत: स शुष्मी यं मर्त्यं पृषदश्वा अवाथ ।
उतेमग्नि: सरस्वती जुनन्ति न तस्य राय: पर्येता अस्ति ॥

श्री पंडित जी का अर्थ—हे (पृषदश्वा:) उत्तम घोड़ों वाले मरुद् वीरो ! (य मर्त्यम् अवाथ) जिस मनुष्य की तुम सुरक्षा करते हो, (स उग्र: स शुष्मी अस्तु) वह उग्र तथा बलवान् होता है । (अग्नि न: सरस्वती ईम् उत् जुनन्ति) अग्नि, सरस्वती आदि देव उसको सत्कर्म में प्रवर्तित करते हैं । (तस्य राय: पर्येता न अस्ति) उसके धन का नाश करने वाला कोई नहीं ।

सायण के अर्थों से पंडित जी के अर्थों में भेद नहीं है । केवल 'पृषदश्वा:' का अर्थ सायण ने किया है, 'पृषच्छन्देन केचित् मृगविशेषा: त एवाश्वा: वाहा: येषां ते ।' पृषत् नाम के जो मृग जाति पशु हैं वे जिनके अश्व हैं ऐसे मरुद्गण रुद्रपुत्र देव हैं ।

दैवत संहिता में मरुद् देवता विषयक व्याख्यान करते हुए पंडितजी ने मरुतों को उन शीत स्थानों के व्यक्ति भी मान लिया है जो अपनी गाड़ियों में घोड़े न लगाकर हरिण जाति का बारहसिंगा जोतते और बिना चक्र के स्लेज गाड़ियों का उपयोग करते हैं । ऋषि दयानन्द ने (पृषदश्वा:) "सिक्तजलाग्निनाऽऽशुगामिनो महान्त:", वे विद्वान् जो सींचे जल और अग्नि के द्वारा शीघ्र जाने वाले महापुरुष हैं, माना है । सरस्वती को सायण दयानन्द दोनों ही वाग् देवता और शुद्धा वाणी ही मानते हैं । पंडित जी ने भी यहां टिप्पणी में सरस्वती को विद्या देवी ही माना है ।

इस मन्त्र में फलत: सरस्वती नदी का कोई भी प्रसंग नहीं आता है । ऋषि दयानन्द ने अग्नि सरस्वती की योजना 'अग्निरिव

सरस्वत क्या है, स्पष्ट है कि यहां वाचक लुप्तोपमा से ऋषि के मत में सरस्वती का वर्णन नदीवत् न होकर देवतावत् किया है। अर्थात् सरस्वती को अग्नि के तुल्य देववत् कहा है। यहां निरुक्त का कथन प्रमाणित होता है।

वसिष्ठ ऋषि के दर्शन में सरस्वती के सब स्थलों का विवेचन कर लेने के उपरान्त अब हम सूक्त ९५,९६ पर ही विचार करते हैं।

प्रथम मन्त्र—

प्र क्षोदसा धायसा सस्र एषा सरस्वती धरुणमायसी पूः।
प्र बाधमाना रथ्येव याति विश्वा अपो महिना सिन्धुरन्याः॥
(ऋ० ७।९५।१)

श्री पंडित जी का अर्थ—(एषा सरस्वती) यह सरस्वती नदी (आयसी पूः) लोहे के प्राकार वाली नगरी के समान है। (धरुणम्) यह सबकी सुरक्षा का धारण करती है। वह अपने (धायसा क्षोदसा प्र सस्रे) धारक जल के साथ दौड़ रही है। वह (सिन्धुः) नदी अपनी (महिना) महिमा से (विश्वा अन्याः अपः) दूसरे सब जलों को (रथ्या इव प्र बाधमाना) रथ चलाने वाले सारथी की तरह बाधा पहुंचाती हुई याति) जाती है।

इस पर श्री पंडितजी की टिप्पणी है—सरस्वती नदी है, इसका अखन्ड प्रवाह है, वह पत्थरों और लोहे से बने किले के समान शत्रु से प्रजा का संरक्षण करती है।

सायण का अर्थ बहुत भिन्न नहीं है, केवल 'रथ्या इव' उपमा में सायण ने रथ्या का अर्थ सारथि नहीं किया, प्रत्युत रथ चलने योग्य मार्ग किया है। दूसरा अर्थ 'रथ्या इव' का 'रथ सवार' के समान किया है। इन दोनों अर्थों में मार्ग की उपमा अधिक जंचती है। रथी या सारथि की उपमा नदी पक्ष में बहुत उचित नहीं है। क्योंकि रथ वाला भी मार्ग से जाता है, न कि मार्ग के

वृक्ष और झाड़ियां तोड़ता जाता है। नदी तो तोड़ती है। मार्ग या विशाल मार्ग भी जब रथ के लिए बनाया जाता है तो नदी जैसे छोटे नालों को साथ लेती है, उसी प्रकार विशाल मार्ग में छोटे-मोटे अनेक मार्ग आ मिलते हैं और अपनी सत्ता खो देते हैं। रथ्या का अर्थ 'रथिना' यह क्लिष्ट कल्पना भी है। प्रारम्भ में सायण का लेख है—सरस्वत्या एषा नदीवन्निगमा। सरस्वती की यह नदी के समान वर्णन करने वाली ऋचा है। तो इससे स्पष्ट हैं कि नदी उपमान है, उपमेय नहीं है। तब उपमान कौन है ? यह एक और विचारणीय विषय है। यास्क के अनुसार सरस्वती, वाणी या प्रभुवाणी सर्वोपरि शास्त्रीय राजाज्ञा के तुल्य 'वेदवाणी' है। इस पर ऋषि दयानन्द का भाष्य नहीं है; क्योंकि ऋषि ने भाष्य केवल ७ मंडल के ६२ सूक्त तक ही किया है। अतः अब इस वेद मन्त्र पर विचार करते हैं।

जिस प्रकार (सिन्धुः) बहने वाली नदी (धोदसा सस्रे) पानी से बहती है, और (आयसी पूः) लोहे के दृढ़ प्रकोट के समान नगर की रक्षा करती है और (रथ्या इव) रथ में लगे अश्वों के समान वेग से जाती है या (रथ्या इव) रथ के योग्य विशाल मार्ग के समान चलती चली जाती है। उसी प्रकार (सरस्वती) उत्तम ज्ञानमयी प्रभुवाणी (धायसा) जगत् के धारण करने वाले (धोदसा) सन्मार्ग में ले चलने वाले ज्ञान से (प्र सस्रे) आगे बढती है। इसी कारण वह (धरुणम्) जगत् का धारक, आश्रय है। वह (आयसी पूः) वह लोहे की बनी प्रकोट ही है और (आयसी) अयस्, ज्ञान, गमन प्राप्ति की बनी है, एवं 'पूः' सर्व मनोरथों को पूर्ण करने वाली, परम साधन है। वह (रथ्या इव) रथी के समान या पूर्व निर्मित विशाल मार्ग के समान (अन्याः अपः प्रबाधमाना) अन्य जलों या नदियों को अपने वेग

से अपने साथ चलने को बाधित करने वाली (सिन्धुः) प्रवाह-शील महानदी के तुल्य (विश्वाः अपः प्रबाधमाना) सब कर्मों और विविध विपरीत मार्गों में जाने वाली प्राणवृत्तियों को बल-पूर्व बांधकर (महिना) अपने महान् सामर्थ्य से (प्रयाति) आगे निकलती है।

शरीर में वाणी की उत्पत्ति भी इसी मन्त्र से कह दी है। वाणी जब कंठ से निकलती है तब अन्य सब प्राणवृत्तियां रुक जाती हैं। मुख्य प्राण स्वयं वागरूप से परिणत होता है। इसी को उपनिषद् ने कहा है—अप्राणन् अनपानन् साम गायति। (छान्दोग्य)।

'सरस्वती' स्त्री का वाचक भी पूर्व लिख आये हैं, यह मन्त्र स्त्री के कर्तव्य भी कहता है। सरस्वती स्त्री सब प्रकार का श्रम करने से 'आयसी' है। बाल प्रजा पालन करने से 'पू' है। धारक पोषक अन्न दुग्ध से वह (प्र सस्रे) प्रस्रवण करती है, माता बनती है। वह गृहस्थ का आश्रय होने से 'धरुण' है। (विश्वाः अन्याः अपः वाधमाना) वह सब अन्य नदीवत् उपस्थित बाधाओं को दूर करती है। अपने मातृतुल्य सर्वोपरि (महिना) महान् सामर्थ्य से (प्र याति) उत्तम मानपद प्राप्त करती है। ईश्वर पक्ष में तो सब विशेषण स्पष्ट ही हैं।

मन्त्र (ऋ० ७। ९५। २) पर विचार—

एका चेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरभ्य आ समुद्रात्।
रायश्चेतन्ती भुवनस्य भूरेर्घृतं पयो दुदुहे नाहुषाय ॥ २ ॥

श्री पंडित जी का अर्थ—(नदीनां शुचिः) नदियों में शुद्ध (गिरिभ्यः आसमुद्रात् यती) पहाड़ों से समुद्र पयन्त जाने वाली (एका सरस्वती अचेतत्) एक ही सरस्वती नदी चेतनायुक्त सी

चल रही है, (भुवनस्य भूरेः रायः चेतन्ती) इस पृथ्वी पर के बहुत धनों को बताती है और (नाहुषाय पयः घृतं दुदुहे) नहुष के लिए दूध भी देती रही।

इस पर विशेष टिप्पणी है—सरस्वती नदी सब नदियों में अधिक शुद्ध है। वह पर्वतों से चलकर समुद्र में मिलती है। जैसे कोई चेतनावाली हो, वैसी यह दौड़ रही है, पृथ्वी में उत्पन्न होने वाले सब धान्य आदि धनों की यह देती है और इस नदी के तीर पर रहने वालों को पर्याप्त घी और दूध देती है।

श्री पंडितजी ने इस मन्त्र में नाहुष शब्द से नहुष भी एक ऐतिहासिक व्यक्ति माना प्रतीत होता है। परन्तु टिप्पणी में नदी के तीर पर रहने वालों को लिखकर सामान्य मनुष्य प्रजा ही लिया है। इस प्रकार वेद में इस स्थल पर नहुष के ऐतिहासिक व्यक्ति होने की बात कट जाती है। रही सरस्वती नदी यह बात तो हिमालय से निकली बड़ी सब नदियों के लिए समान है। सरस्वती क्या फिर नदी का पर्याय मात्र है ? इस प्रकार भी सरस्वती का विशेष नदी होना शिथिल हो जाता है। आपने (एका अचेतत सरस्वती) का अर्थ किया है—एक ही सरस्वती नदी चेतनायुक्त सी चल रही है। यह अर्थ भी केवल सरस्वती तक सीमित नहीं है, नदियों की सभी गतियों से यही भान होगा। नाहुष को घी दूध देने का अभिप्राय कदाचित् तट पर गौओं की अधिकता को बतलाता है। परन्तु सायण यहां कुछ और ही कह रहे हैं—

'सहस्र वत्सरेण क्रतुना यक्ष्यमाणो नाहुषो नाम राजा सरस्वतीं नदीं प्रार्थयामास। सा तस्मै सहस्रसंवत्सरपर्याप्तं पयोघृतं च प्रददौ। अयमर्थोऽत्र प्रतिपाद्यते।'

हजार वर्ष तक चलने वाले यज्ञ करने के इच्छुक नाहुष राजा ने सरस्वती नदी से प्रार्थना की, उसने नाहुष को इतना घी

दूध दिया कि वह एक सहस्र वर्ष तक पर्याप्त हुआ। यही बात इस मन्त्र में कही है। इस भूमिका के अनुसार सायण ने मन्त्र का अर्थ किया है। पाठक ऊपर लिखे अर्थ से तुलना करें—(नदीनां शुचिः) अन्य नदियों में से शुद्ध (गिरिभ्यः आसमुद्रात् यती) पर्वतों से समुद्रपर्यन्त जाती हुई (एका सरस्वती अचेतत्) एक सरस्वती नदी ने नाहुष की प्रार्थना जान ली और (भुवनस्य भूरेः रायः) प्राणियों के बहुत से धर्म (चेतन्ती) बतलाती अर्थात् देती हुई (नाहुषाय घृतं पयो दुदुहे) नाहुष राजा के हजार वर्ष के यज्ञ के लिए पर्याप्त घी दूध उसने दुहा अर्थात् दिया।

पंडित जी ने नदी को चेतन के समान चलाया। सायण के अनुसार नहुष की प्रार्थना सरस्वती ने जानी। पं० जी के अनुसार सरस्वती ने तीरवासियों को घी दूध दिया। सायण के अनुसार सरस्वती ने नाहुष राजा को १००० वर्ष के लिए पर्याप्त घी दूध दिया। श्री पंडितजी नदी की केवल भौगोलिक सत्ता मानते हैं और सायण उस नदी का नाहुष राजा और उसके यज्ञों से विशेष सम्बद्ध 'सरस्वती' नदी को मानता है, जब कि वेद मन्त्र में केवल 'नाहुष' शब्द और केवल 'सरस्वती' दो पद हैं, 'राजा' पद विद्यमान नहीं है।

हम जब यास्क के निर्देशानुसार विचार करते हैं तो नदीवत् वाक् सरस्वती का वर्णन स्पष्ट प्रतीत होता है।

(एका नदीनां शुचिः गिरिभ्यः आसमुद्रात् यती) जिस प्रकार एक नदी गिरियों (पर्वतों) से शुद्ध पवित्र जल वाली समुद्र तक जाती हुई (अचेतत्) जानी जाती है। उसी प्रकार (सरस्वती एका) एक अद्वितीय सर्वश्रेष्ठ उत्तम ज्ञानवाली प्रभुवाणी (गिरिभ्यः) ज्ञानोपदेष्टा गुरुओं से (आ समुद्रान्) जनसमूहमय सागर तक प्राप्त होती हुई (अचेतत्) जानी जाती है अर्थात् उसका

लोग ज्ञान प्राप्त करें। वह (भुवनस्य भूरेः चेतन्ती) संसार और जन्तु जगत को प्रभूत ऐश्वर्य का ज्ञान कराती हुई (नाहुषाय) मनुष्य मात्र को (घृतंः पयः दुदुहे) प्रकाशमय, पान करने योग्य रस के तुल्य ज्ञान रस को बढ़ाती है। ब्राह्मणकारों ने यजुर्वेद, ऋग्वेद, सामवेद आदि के ज्ञान के सांकेतिक पद मधु, घृत, पयस् आदि बतलाये हैं। इसकी स्पष्टता शतपथ के 'स्वाध्याय-ब्राह्मण' से हो जाती है।

मधु ह वा ऋचः। घृतं ह सामानि। अमृतं यजूँषि। यद् ह वा अयं वाकोवाक्यमधीते क्षीरोदने मांसौदनौ हैव तौ।

शत० ब्रा० का० ११। अ० ५। ब्राह्मण ७। क० ५।

निघण्टु में 'नहुष' शब्द मनुष्य का एक पर्याय है। मनुष्याः। नराः धवाः। नहुषः (नहुषाः) मर्याः। तुर्वशाः। द्रुह्यवः। आयवः। यदवः। अनवः। पूरवः। विवस्वन्तः .... इति। पञ्चविंशतिर्मनुष्य-नामानि। निघण्टु अ० २। ३॥ जिन नामों को लोग प्रायः ऐतिहासिक बतलाते हैं सभी सामान्य मनुष्य के उसी प्रकार पर्याय-मात्र हैं जैसे अश्व के हय, तुरग, तुरंग आदि हैं।

ऋ० ७। ९५। ३ मन्त्र सरस्वान् देवता का है, वहां सरस्वान् शब्द का उपादान तो नहीं है तो भी 'सः' ऐसा पुंल्लिङ्ग सर्वनाम कहे जाने से उसका देवता सरस्वती न हो कर सरस्वान् है। केवल लिङ्गभेद मात्र है। सायण ने सरस्वान् को मध्यस्थान का वायु माना है। तब सरस्वती स्वतः 'मध्यस्थाना पावारवी वाग् विद्युत्' है, ऐसा मानना असंगत नहीं है। परन्तु पंडितजी ने इस मन्त्र को तरुण युवा पुरुष पर लगाया है। सरस्वती देवताक सूक्त 'सः' यदि तरुण है तो स्वतः ही 'सरस्वती' तरुणी स्त्री होना उचित है। जिससे हमारे पूर्वोक्त अनेक अर्थों में संगति बैठती है और सरस्वती शब्द स्त्री का वाचक हो जाता है।

ऋग्वेद मंडल ७ । सू० ९५ । मन्त्र ४ पर विचार—

उत् स्या नः सरस्वती जुषणा उपश्रवत् सुभगा यज्ञे अस्मिन् ।
मितज्ञुभिर्नमस्यैरियाना राया युजा चिदुत्तरा सखिभ्यः ॥
(ऋ० ७ । ९५ । ४)

श्री पंडितजी का अर्थ—(उत जुषाणा सुभगा स्या सरस्वती) और प्रसन्न हुई वह भाग्य वाली सरस्वती (नः अस्मिन् यज्ञे उपश्रवत्) हमारे इस यज्ञ में हमारी की हुई स्तुति सुने। (मित्तज्ञुभिः नमस्यैः इयाना) घुटने टेक कर नमन करने वाले उपासक उस नदी के पास जाते हैं। (युजा राया चित्) वह नदी योग्य धन से युक्त है और (सखिभ्यः उत्तरा) मित्र भाव से रहने वालों के लिए उच्चतर अवस्था देती है।

सायण ने कुछ विशेष नहीं किया, केवल अपने भाष्य में इस सरस्वती को नदी नहीं लिखा। घुटने टेक कर नमस्कार करने वाले उपासक उसके पास जाते हैं। वह प्रसन्न होती है, वह इस यज्ञ में हमारी स्तुति सुने, ये गुण सब परमेश्वर या ज्ञानमय सरस्वती (वेद पुरुष) वा तन्मय विद्वानों के लिये तो सम्भव हैं पर जलमयी जड नदी के लिये सम्भव नहीं है। उपचार से, या देवता की स्तुति करनी थी इसलिए अयुक्त गुणों को भी देवता में गौण वृत्ति से कह दिया, ऐसा माना जायगा। योरोपियन लोगों ने जड-देवतावाद में भक्तिवाद से की गई स्तुतियां ही मानी हैं। श्री पंडितजी भी उसी प्रवाह में बहे हैं। यास्क ने जो दिशा दिखाई है तदनुसार नदीवत् अर्थात् नदी को उपमान मानकर ईश्वर या ज्ञानमय तत्व, वाणी या विद्या का वर्णन है।

(स्या) वह सर्वोपास्य, सर्व सेवनीय (सरस्वती) प्रशस्त विज्ञान से पूर्ण भगवत्स्वरूपा सरस्वती, वेदवाणी वा ज्ञानमय प्रभु या गुरु (जुषाणा) सेवन की जाकर (अस्मिन् यज्ञे)

इस ज्ञान अर्थात् दान-आदानमय पवित्र यज्ञ में (नः उपश्रवत्) हम शिष्यों द्वारा समीप बैठकर सुनी जाती है। भगवत् पक्ष में वह हमारे समीप में सब सुनता है और (मितज्ञुभिः नमस्यैः इयाना) मित-परिमित जानने वाले नमस्कारशील, विनयशील शिष्यों द्वारा प्राप्त की जाती है, वह (युजा) नित्ययुक्त, योग=मनोनिरोध-पूर्वक एकाग्रचित्त से प्राप्त (राया) उत्तम सुखप्रद ज्ञानैश्वर्य से (सखिभ्यः) समान आख्या वाले प्रियजनों, शिष्यों के लिए (चित्) भी (उत्तरा) उत्कृष्ट ज्ञानमयी होने से उत्तम पद या स्थिति में ले जाती है, उनको पहले की अपेक्षा अधिक ज्ञान सम्पन्न करती है।

इस पर पंडित जी ने एक टिप्पणी दी है—

सरस्वती नदी के तीर पर उपासना करने वाले घुटने टेक कर नमस्कार करते हुए स्तुति प्रार्थना उपासना करते हैं, दोनों घुटने जोड़ कर टेक कर नमन करना आजकल यवनों में है। वैदिक कर्म करने के समय भी किसी समय घुटने टेकने होते हैं, पर यह प्रथा इस समय आर्यों में सर्वत्र प्रचलित नहीं है, यवनों में तथा ईसाइयों में दीखती है। यह टिप्पणी 'मितज्ञु' शब्द पर दी गई है। 'मितज्ञु' पर सायण ने लिखा है "जानु शब्दस्य ज्ञुश्छान्दसः" (ऋ० ३। ५९। ३) जानुशब्द को वेद में 'ज्ञु' आदेश होता है। अन्यत्र लिखा है संकुचित जानवः (ऋ० ६। ३२। ३१) प्रह्वैर्जानुभिः (७। ९५। ४) मित का अर्थ संकुचित और प्रह्व किस प्रकार हुआ यह विचारने योग्य बात है। मित, परिमित अर्थात् जो फैले नहीं हैं, यह तो अर्थ स्पष्ट विदित होता है। लोक में भी मित-भुग्, मिताशी, मितभाषी आदि शब्दों में 'मित' का अर्थ परिमित है। जानु का परिमित होने का तात्पर्य मर्यादा से बाहर न होना ही है। पांव फैलाकर बैठना असभ्यता है, पांव या टांगे सिकोड़

कर बैठना सभ्यता है, प्रार्थना आदि के सब आसन घुटने या टांगें सिकोड कर लगते हैं, तब 'मितज्ञु' शब्द से ईसाई मुसलमानों के अपनाये घुटने टेकने आदि की विधि का अर्थ वेद में से निकलना शोभाजनक नहीं है। यदि 'मित' का अर्थ वस्त्र से ढकना मीलें तो सभ्यतोचित है। यदि वेद को सभ्यता की शिक्षा का केन्द्र मानें तो भी इतना ही कहते बनता है कि 'मितज्ञु' शब्द से उन देशों में गोड़े सिकोड़ने या झुकाने का अर्थ उस प्रकार लिया है और वेदज्ञ सम्प्रदाय के भारतीय आर्यों ने आसन लगाने की रीति को अपनाया है। परन्तु 'मितज्ञु' शब्द की तुलना 'मितद्रु' से करनी चाहिए। "मितं द्रवति इति मितद्रुः मितं जानाति ज्ञापयति वा"। मितं अनुमितं साक्षात् कृतं जानाति ज्ञापयति वा। परिमित ज्ञानी वा अनुमान व साक्षात्कार से प्राप्त ज्ञान को जानने वा जनाने वाला 'मितज्ञु' कहा जा सकता है। सरस्वती (वेदवाणी) के सम्बन्ध में मितज्ञु के दोनों प्रकार के अर्थ संभव हैं। (मितज्ञुभिर्नमस्यैरियाना) नमस्य अर्थात् नमस्कार करने योग्य माननीय 'मितज्ञुः' अनुमित और साक्षात् प्राप्त ज्ञानों के ज्ञाता वा ज्ञापयिता, अनुभववृद्ध एवं विद्यावृद्ध, बहुश्रुत व्यक्तियों द्वारा शिष्यों के पास जाने वाली। अथवा 'मितज्ञु' जानुसंकोच कर सभ्यता से आसन लगाकर बैठने वाले, नमस्कारशील, विनीत शिष्यों से प्राप्त की जाती हुई सरस्वती, वेदवाणी (सखिभ्यः उत्तरा) समान आख्यान अर्थात् नाम वा समान रूप से भाषण करने वाले, उपदेश देने वाले वा पाने वालों के लिए उत्कृष्ट पद पर प्राप्त कराने वाली है। भगवत् पक्ष में तो सरस्वती की योजना स्पष्ट ही है। वह (सरस्वती नः जुषाणा) सरस्वती रूप प्रभु हम सब को प्रेम करता है, (सुभगा) समस्त उत्तम ऐश्वर्यवान् है, ज्ञानी, वृद्ध उसका ज्ञान करते हैं, उसको पाते हैं। वह अपने (युजा राया) सहयोगी ऐश्वर्य से ही (सखिभ्यः उत्तरा) अपने समान नाम

वाले अन्य जीवात्माओं से उत्कृष्ट है और उनको (राया, युजा चिद्) अपने ऐश्वर्य से और योग (चित्त के निरोध) द्वारा उत्तम रीति से भवसागर से तार देता है।

इस प्रकार सरस्वती के भौगोलिक नदी विशेष होने का कोई अवसर नहीं है।

ऋ० ७। ९५। ५। मन्त्र पर विचार—

इमा जुह्वाना युष्मदा नमोभिः प्रतिस्तोमं सरस्वति जुषस्व।
तव शर्मन् प्रियतमे दधाना उपस्थेयाम शरणं न वृक्षम् ॥ ५॥
(ऋ० ७। ९५। ५)

श्री पंडित जी का अर्थ—हे सरस्वति नदी ! (इमा जुह्वानाः) इन मन्त्रों का यज्ञ करने वाले हम (नमोभिः युष्मत् आ) नमस्कारपूर्वक तुमसे अधिक अन्न प्राप्त करते हैं, (स्तोमं प्रति जुषस्व) तू हमारे स्तोत्र का श्रवण कर। हम अपने आपको (तव प्रियतमे शर्मन् दधानाः) तुम्हारे अत्यन्त प्रिय सुख में धारण करते हैं। (शरणं न वृक्षम् उपस्थेयाम) और आश्रयभूत वृक्ष की तरह तुम्हारे साथ रहेंगे। जैसे पक्षी वृक्ष के आश्रय से रहते हैं वैसे तुम्हारे आश्रय से रहेंगे।

इस पर टिप्पणी नहीं है। सायण के लेख से यह विदित नहीं होता कि यहां सरस्वती नदी का वर्णन है। सरस्वती का यहां यास्क के अनुसार देवता अर्थात् परमेश्वर के रूप में वर्णन है।

पंडितजी वा सायण के लेख से स्पष्ट है कि उनके मत में सरस्वती के नाम पर यज्ञ में अन्नों की आहुति दी गई है और नमस्कार करके उनसे अपने अध्याहृत पदों के अनुसार श्री पंडितजी के मत में हम अन्न प्राप्त करते हैं, सायण के मत से हम धन प्राप्त करें। नदी को नमस्कार करना, उसको अन्न, हवि देना कुछ अभिप्राय नहीं रखता। फिर उससे यह कहना कि वह हमारे

स्तोम (स्तोत्र) श्रवण करे, यह और भी उपहास की बात होगी। उसके प्रियतम शर्म (सुख) में आने की याचना है। यह सुख किसको प्रियतम है ? याचक को या सरस्वती को, यदि याचक को है तो आपत्ति नहीं है, यदि प्रियतम सरस्वती को है तो जड़ को क्या प्रिय, क्या प्रियतर और क्या प्रियतम ? फिर उसकी शरण याचना है। इस प्रकार योरोप के लोगों का कथन कि वेदों में जड़ पदार्थ, सूर्य, चन्द्र, आग, वायु, नदी, ऊषा आदि पदार्थों के प्रति स्तुतियां हैं, यह बात वेदों की जंगली जातियों के पूजा के समान है। श्री पंडितजी ने इसे वास्तविक सिद्ध कर दिखया। श्री पंडित सातवलेकर जी के समान गंभीर तत्वज्ञानी और ६० वर्ष से अधिक वेद तत्वान्वेषी ज्ञानवृद्ध पुरुष से वेद साहित्य का इस प्रकार का आघात पहुँचना यह एक असंभावित सी बात हो गई है।

इस मन्त्र की योजना जैसा हमने ऊपर निर्देश किया है ईश्वरपरक है और साथ ही सरस्वती स्त्री या गृहमाता के प्रति भी निर्देश है। ईश्वर पक्ष में—

हे (सरस्वति) प्रशस्त ज्ञान की स्वामिनि ! प्रभुशक्ति (युष्मद्) आप से (इमा जुह्वानाः) इन ज्ञानों और सुखद पदार्थों को प्राप्त करते हुए, हम (नमोभिः) नमस्कारों सहित (आ) आपके सन्मुख उपस्थित हैं। आप हमारे (स्तोत्रं प्रतिजुषस्व) स्तोत्र, स्तुति वचनों को प्रेमपूर्वक स्वीकार करो। (तव) तेरे (प्रियतमे) हमें अतिप्रिय (शर्मन्) सुख या आनन्दस्वरूप शरण में (आदधानाः) अपने आप को रखते हुए (शरणं न वृक्षम्) आश्रयभूत वृक्ष को पक्षियों के समान हम जीवगण (उपस्थेयाम) आपकी उपासना करें, आपका आश्रय लें।

यहां सरस्वती रूप प्रभु को आश्रय वृक्ष से उपमा दी है।

'सरस्वती' वेदवाणी को भी कहते हैं। इसलिए वेद को भी प्राचीन ऋषियों ने वृक्ष के समान मानकर उसके प्रवचन भेद से अनेक शाखाएं मानी हैं। बोधायन गृह्यसूत्र में वानप्रस्थ प्रकरण में वनस्थ को वेद रूप वृक्ष का ही आश्रय लेने का उपदेश है। ब्रह्म ज्ञानमय है, गुण गुणी का अभेद होने से वेद पुरुष और परमेश्वर में अभेद जानकर वेदमय वृक्ष की शरण भी ईश्वर की शरण लेना है। विस्तारभय से गृहमाता के पक्ष को यहां नहीं दिखाते हैं। केवल इतना कहेंगे कि मनु का निर्देश है।

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्याः मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः॥

आचार्य और पिता क्रम से उपास्य ब्रह्म और सर्वपालक प्रजापति के रूप में हैं। फलतः यह मन्त्र ब्रह्म, वेद, और उपास्य ब्रह्म परमेश्वर दोनों का वर्णन करता है। इस प्रकार 'सरस्वती' माता होने से यह मन्त्र माता पृथिवी का भी वर्णन करता है। इस प्रकार सरस्वती का बहुरूप देवभाव स्पष्ट होता है। फलतः केवल नदीमात्र मानकर यहां कार्य नहीं चल सकता। इसी कारण इस मन्त्र के भाष्य में नदी नाम न लिखकर उसका प्रसंग नहीं उठाया।

अब हम ऋ० ७। ९५। ६ मंत्र पर विचार करते हैं—

अयमु ते सरस्वति वसिष्ठो द्वारावृतस्य सुगमे व्यावः।
वर्ध शुभ्रे स्तुवते रासि वाजान् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

श्री पंडितजी का अर्थ......हे (सुभगे सरस्वति) उत्तम भाग्यशाली सरस्वती नदी! (अयं वसिष्ठः) यह वसिष्ठ ऋषि (ते ऋतस्य द्वारौ वि आवः) तुम्हारे लिए यश के दोनों द्वार खोलता है। हे (शुभ्रे स्तुवते वर्ध) शुभ्रवर्णवाली देवि! स्तोता के हित करने के लिए बढ़ो। तथा (वाजान रासि) उसको अन्न

दो। (यूयं स्वस्तिभिः सदा पातम्) तुम कल्याण के साधनों से हमारी सदा सुरक्षा करो।

इस मन्त्र पर पंडितजी की कोई टिप्पणी नहीं है। सायण ने भी पंडितजी के समान सरस्वती को नदी नहीं लिखा है। और न वसिष्ठ को ऋषि लिखा है। शेष अर्थ समान है। तब विचारणीय है कि यज्ञ के दोनों द्वार सरस्वती नदी के लिए वसिष्ठ ने कैसे खोल दिये? स्तुतिमात्र करने वाले को नदी धन कैसे देगी? नदी जलमय होने से वह नीली न होकर शुभ्रवर्ण वाली क्यों है?

सायण ने शुभ्रे शुभ्रवर्णे देवि! लिखकर लोक-कवि-सम्प्रदाय सिद्ध सर्वशुक्ला सरस्वती की जनश्रुति को निभाया है। पौराणिक वाक् देवता सरस्वती का वर्णन किया करते हैं।

या कुन्देन्दु-तुषार-हार-धवला, या शुभ्रवस्त्रावृता,
या वीणावरदंडमंडितकरा या श्वेतपद्मासना ॥ इत्यादि ॥

यह वस्तुतः वेद की सरस्वती का 'शुभ्रे' संबोधन का आधार लेकर उनका वाग्-विलासमात्र है। यहां ज्ञानमय सरस्वती का सुन्दर वर्णन है। हे (सुभगे) शुभ, उत्तम ज्ञान-ऐश्वर्य सम्पन्न ज्ञान वाणि! (ते) तेरे (ऋतस्य द्वारौ) सत्य ज्ञान के दोनों द्वारों को (वसिष्ठः) वसिष्ठ (वि आवः) खोलता है। ज्ञान प्राप्त करने के दो द्वार हैं। शरीर में दो आँख, दो नाक, दो कान, दो हाथ, त्वचा दो दो ये सब ज्ञानेन्द्रियां हैं। रसना चाहे एक है तो भी उसके रसग्राही अंश जीभ के आगे और पीछे दो भागों में पृथक् पृथक् हैं। इस प्रकार लोक में भी ज्ञान प्राप्त करने के दो मार्ग हैं एक स्वतः अनुभव, दूसरा गुरु से उपदेश द्वारा ज्ञानप्राप्ति। वसिष्ठ दोनों द्वारों को इसी प्रकार खोलता है जैसे शरीरगत वसिष्ठ, मुख्य प्राण नासिका, श्रोत्र आदि छिद्रों को खोलता है। हे शुभ्रे! हे स्वच्छ निर्दोष ज्ञान स्वरूपे! तू (वर्ध) बढ़! तू खूब वृद्धि को प्राप्त कर।

तू (स्तुवते) स्तुतिशील, विद्याभ्यासी पठनशील व्यक्ति को (वाजान् रासि) अनेक ज्ञान प्रदान करती है। हे विद्वानो ! आप लोग हमारी सदा उत्तम साधानों से रक्षा करें।

इस मन्त्र में वसिष्ठ, ब्रह्मचारियों का आचार्य ही है, वह छात्रों को केवल ग्रंथ ही ग्रन्थ न रटावे प्रत्युत स्वयं अनुभव ग्रहण करने का क्रियात्मक साधन या द्वार भी खोले।

इस प्रकार हमने सरस्वती विषयक ९५ वां सूक्त विचारपूर्वक देख लिया। ९६ सूक्त की प्रथम तीन ऋचाएं भी सरस्वती देवता की हैं उन पर भी विचार करना है।

ऋ० ७। ९६। १ मंत्र पर विचार—

बृहद् उ गायिषे वचोऽसुर्या नदीनाम्।
सरस्वतीमिन्महया सुवृक्तिभिः स्तोमैर्वसिष्ठ रोदसी ॥१॥
(ऋ० ७। ९६। १)

श्री पंडितजी का अर्थ—

हे वसिष्ठ ! तू (नदीनाम् असुर्या बृहद् उ वचः गायिषे) तू नदियों में बलवती नदी के बड़े स्तोत्र का गान कर (रोदसी सरस्वतीम् इत्) इसे द्युलोक और भूलोक में रहने वाली सरस्वती का महत्व (सुवृक्तिभिः स्तोत्रैः महय) उत्तम वचनों के स्तोत्रों से वर्णन करो।

इस मन्त्र पर पंडितजी की कोई टिप्पणी नहीं है। सायण ने लिखा है कि—"अनया ऋषिरात्मानं संबोध्य सरस्वत्याः स्तुतौ प्रेरयति"। यहां ऋषि अपने आप अपने को वसिष्ठ ऐसा सम्बोधन करके सरस्वती की स्तुति में प्रेरित करता है। पंडितजी नदियों में बलवती नदी सरस्वती मानते हैं। सायण ने 'रोदसी सरस्वतीम्' पर लिखा है रोदसी द्यावापृथिव्योः स्थितां दिवि देवतारूपेण भूम्यां वाग्-रूपेण निवसन्तीं सरस्वतीम् इत् सरस्वतीमेव सुवृक्तिभिः सुष्ठु दोषवर्जितैः

स्तोमैः स्तोत्रैः महय पूजय। सर्वदा सरस्वतीमेव स्तुहि नान्यां देवतामिति भावः। अर्थात् द्यौः और पृथिवी में व्याप्त अर्थात् द्युलोक में देवता रूप से और भूमि पर वाग् रूप से बहती हुई सरस्वती को ही निर्दोष स्तोत्रों से पूजा कर। कहने का भाव है कि सर्वदा सरस्वती की ही स्तुति कर और दूसरे देवता की नहीं।

सायण ने बहुत स्पष्टता से कहने का साहस किया है कि यह वैदिक सरस्वती जिसका वसिष्ठ ने वेद मंत्रों में दर्शन किया है वह भूमि पर वाग् रूप से है और शेष समस्त जगत् द्युलोक में देवता दिव्य ज्योति रूप से है। वहां सर्व जगत् को प्रेरणा देने वाली महती परमेश्वरी शक्ति का 'सूर्या' रूप है। वस्तुतः देखा जाय तो भूमि पर भी उसका प्रेरणार्थक ही रूप है जिसको हम वाग् रूप कहते हैं। साहित्यकार वाणी के चार प्रकार मानते हैं। 'प्रभु वाक्य'—जैसे वेद, जिससे ऊपर दूसरी किसी वाणी का प्रामाण्य नहीं है। दूसरी 'सुहृद् वाक्य' जैसे स्मृति ग्रंथ जो मित्र के समान मनुष्य को सन्मार्ग पर ले जाते हैं। तीसरे 'कान्ता वाक्य', जैसे काव्य साहित्य, जो स्त्री प्रिय पत्नी के समान पुरुष को आकर्षक रूप में समझा बुझाकर सन्मार्ग पर लाते हैं। अवान्तर रूप से ये सब प्रेरणा वाक्य ही हैं। इसी के अन्तर्गत वे सभी शक्तियां आजाती हैं जो मानव को सन्मार्ग पर लाने के लिए प्रेरक हैं। चाहे वह सरस् प्रशस्त ज्ञान वा प्रशस्त बल या प्रेरणा ही क्यों न हो।

सायण के इस लेख से तो वैदिक साहित्य में भौगोलिक सरस्वती के वर्णन का मूल ही ध्वस्त हो जाता है, उसकी कल्पना को भी कोई स्थान नहीं रहता।

ऋ० ७। ९६। २ मन्त्र पर विचार—

उभे यत्ते महिना शुभ्रे अन्धसी अधिक्षियन्ति पूरवः।
बोध्यवित्री मरुत्सखा चोद राधो मघोनाम्॥ २॥

श्री पंडितजी का अर्थ—

हे (शुभ्रे) शुभ्र वर्णवाली सरस्वती नदी ! (यत् ते महिना) जिस तुम्हारी महिमा द्वारा (उभे अन्धसी) दोनों प्रकार के दिव्य और पार्थिव अन्नों को (पूरवः अधिक्षियन्ति) नागरिक लोग प्राप्त होते हैं, (सा अवित्री नः बोधि) वह रक्षण करने वाली नदी हमारा रक्षण करना है, यह जाने । (मरुत्सखा मघोनां राधः चोद) मरुतों के साथ मित्रता करने वाली वह नदी यज्ञ करने वाले धनिकों के पास धन को प्रेरित करे ।

इस मन्त्र पर पंडितजी की टिप्पणियाँ हैं—

१. 'उभे अन्धसी' दिव्य अन्न सोम का रस है, पार्थिव अन्न चावल है । यह दोनों अन्न सरस्वती नदी पर होते हैं । और यह यज्ञ करने वालों को प्राप्त होते हैं ।

२. 'मघोनां राधः चोद' धनवान् अपने धन से यज्ञ करे । यज्ञ करने से उसके पास धन आजाय । यहां यज्ञ कर्ता का नाम मघवान् है । धनवान् को उचित है कि वह अपने धन का यज्ञ में उपयोग करे । धन यज्ञ के लिए ही है ।

आचार्य सायण ने इस मन्त्र में भी नदी का नाम लिया है । पंडितजी ने नदी पर ही बल दिया है । 'उभे अन्धसी' से पंडितजी ने सोम और चावल दो अन्न लिये हैं । सायण उभयविधं दिव्यं पार्थिवं च अन्निम् ग्राम्यम् आरण्यम् । दिव्य और पार्थिव अग्नि वा ग्राम्य और आरण्य दो प्रकार की अग्नि लेते हैं । 'पूरवः' पद से पं० जी ने नागरिक लोग लिए हैं । सायण ने भी 'पूरयितव्याः मनुष्याः' भरण पोषण करने योग्य मनुष्य माने हैं । दोनों ने पूरवः पुरुओं को ययाति वंशज पुरु की सन्तान नहीं माना है । "मरुत्-सखा मरुतः माध्यमिका देवगणाः । ते सखायो यस्याः माध्यमिकायाः वाचः । तादृशी त्वं" । सरस्वती को माध्यमिका वाग् विद्युत रूप

शक्ति से सखा मरुद् गण माध्यमिक देवगण, अन्तरिक्षगत वायु गण माने हैं। और पंडितजी ने 'मरुतः' पर कोई टिप्पणी नहीं दी। अनेक स्थलों पर 'मरुतः' से वीर पुरुष लिये हैं। वे ही कदाचित् सरस्वती नदी के तट पर रहते हैं। वे पंडितजी को अभिप्रेत हों।

सायण के इस लेख से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सरस्वती का अन्य स्थलों पर भी जहाँ 'मरुतों' का इन्द्र के सहयोग में वर्णन हो वहां माध्यमिका वाग्, विद्युत् लेना उचित है, नदी नहीं।

वस्तुतः जिस प्रकार मध्यमा वाग् विद्युत् व मेघादि के महान् सामर्थ्य पर ही (उभे अन्धसी) दोनों अन्न अर्थात् शरत्कालिक फसल और वर्षाकालिक फसल निर्भर हैं। परन्तु वह तो जड़ होने से उसको ज्ञान होना असंभव है। तब वेद का 'सा नो बोध्यवित्री' यह कथन कि वह हमें जाने, एक विडम्बनामात्र है। जड़ विद्युत् और जड़ नदी, दोनों ही ज्ञान से रहित हैं तब यह ऋचा परमेश्वरी शक्ति का ही वर्णन करती है। यहां सरस्वती का देवतावद् वर्णन किया है अर्थात दिव्यशक्ति विद्युत् की उपमा से ईश्वर की प्रार्थना है।

ऋ० ७।९६।३। मन्त्र पर विचार—

भद्रमिद् भद्रा कृणवत् सरस्वत्यकवारी चेतति वाजिनीवती
गृणाना जमदग्निवत् स्तुवाना च वसिष्ठवत् ॥ ३ ॥

ऋ० ७।९६।३॥

श्री पंडितजी का अर्थ—(भद्रा सरस्वती भद्रम् इत् कृणवत्) कल्याण करने वाली सरस्वती निःसंदेह कल्याण करती है। तथा (अकवारी वाजिनीवती चेतति) सीधी जाने वाली और अन्न देने वाली यह सरस्वती हमारे अन्दर चेतना उत्पन्न करे प्रजा बढ़ावे (जमदग्निवत् गृणाना) जमदग्नि ऋषि के द्वारा प्रशंसित

होने के समान और (वसिष्ठवत् च स्तुवाना) वसिष्ठ के योग्य स्तुति से प्रशंसित हो।

इस पर पंडितजी की टिप्पणी है—

(१) यहां सरस्वती नदी भी है और विद्या भी समझने योग्य है। जैसे सरस्वती नदी अन्नादि द्वारा कल्याण करती है, वैसे विद्या भी मानवों का कल्याण करती है।

(२) वाजिनीवती—अन्न देनेवाली सरस्वती नदी भी है और विद्या भी अन्न तथा धन देती है।

(३) अकवारी—वह सीधा उन्नति का मार्ग बताती है, टेढ़ी चाल से चलने को रोकती है।

(४) जमदग्नि—(जमत् अग्नि) जो अग्नि को प्रदीप्त करता है।

(५) वसिष्ठ—(वासयति) जो निवास करता है।

(६) इस वसिष्ठ के मन्त्र में जमदग्नि का नाम आने से जमदग्नि का पूर्वकाल में होना इतिहास पक्ष वालों की दृष्टि से सिद्ध होता है।

सायण ने इस मन्त्र में भी नदी का निर्देश नहीं किया है। पंडितजी ने इस मन्त्र में नदी और विद्या दोनों लेने की प्रवृत्ति दिखाई है। वे ऐतिहासिक पक्ष छोड़ना नहीं चाहते हैं, इसी से मन्त्र में आये जमदग्नि और वसिष्ठ पदों में दोनों ऋषि ऐतिहासिक व्यक्ति रूप में लिए हैं। जमदग्निना ऋषिणा इव मया गृणाना स्तूयमाना वसिष्ठवत्। अर्हार्थे वतिः वसिष्ठार्हं वसिष्ठस्यानुरूपं स्तुवाना स्तूयमाना च भव। सायणः।

अर्थात् जैसे जमदग्नि ऋषि द्वारा तू स्तुति की गई और वसिष्ठ ने जिस उचित रीति से तेरी स्तुति की इसी प्रकार तू मेरे द्वारा स्तुति प्राप्त कर। इस अर्थ में 'भव' क्रिया का विशेष अध्याहार करना पड़ा है।

११

पंडितजी का अर्थ—जमदग्नि ऋषि के द्वारा प्रशंसित होने के समान और वसिष्ठ के योग्य स्तुति से प्रशंसित हो। इन अर्थों में दो शैली अपनानी पड़ी हैं, अर्थात् तू वैसी प्रशंसित हो जैसी जमदग्नि ने तेरी प्रशंसा की है। दूसरा वसिष्ठ जिस स्तुति के योग्य है वह स्तुति तू प्राप्त कर।

सायण का 'अर्हार्थे वतिः' प्रत्यय लगाने की बात समझ में आती है परन्तु उसको दोनों स्थानों पर निभाया नहीं गया। स्तुवाना और गृणाना दोनों पद कर्ता में प्रत्यय न जानकर कर्म में समझ लिये गये हैं। वस्तुतः ये दोनों प्रयोग कर्ता में हैं। अर्थ इस प्रकार होना चाहिए।

(भद्रा सरस्वती भद्रम् इत कृणवत्) कल्याणकारिणी सरस्वती वेदवाणी (या विद्युत् या प्रभु) सबका कल्याण ही किया करती है वह (अकवारी वाजिनीवती) कभी कुत्सित मार्ग में न जाने देने वाली और बल ऐश्वर्य और ज्ञान से युक्त क्रिया वाली होकर (चेतति) ज्ञान प्रदान करती है वह (जमदग्निवत्) प्रज्ज्वलित अग्नि के समान (गृणाना) ज्ञान का उपदेश करती है। और (वसिष्ठवत् स्तुवाना) 'वसु' ब्रह्मचर्य वास करने वालों में सर्वश्रेष्ठ गुरु के समान प्रवचन करती है। यदि कर्म में भी प्रत्यय मानें तो भी कोई दोष नहीं। तब अर्थ होगा कि वह सरस्वती जमदग्नि अर्थात् प्रज्वलित अग्नि के समान वेद में स्तुति की गई है 'और (वसिष्ठवत्) आचार्य के समान स्तवन की जाती है। 'प्रभु' अग्नि, ब्रह्म, वेद ज्ञान प्रकाश देता है और सब का आद्य गुरु है। स सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। योगदर्शन अ० १॥ अनादि काल से वह प्रभु सब का गुरु, उपदेष्टा है।

इस प्रकार विवेचन करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं

कि वेद में सरस्वती कोई ऐतिहासिक या भौगोलिक विशेष नदी जो किसी विशेष देश में बहती थी, नहीं कही गई है।

सप्त नद्यः सप्त सिन्धवः

अब हम 'सप्त नद्यः' का कुछ विवेचन करेंगे। सात नदियों, वा सात सिन्धुओं का वर्णन वेद में अनेक स्थानों पर है। जैसे—

१. अवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून्। ऋ० १।३२।१२॥

हे इन्द्र! तूने सात सिन्धुओं को भूमि पर गति करने के लिए नीचे गिराया।

२. अष्टौ व्यख्यत् ककुभः पृथिव्याः त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून्।

ऋ० १।३५।८॥

३. अग्निं विश्वा अभि पृक्षः सचन्ते समुद्रं न स्रवतः सप्तयह्वीः।

ऋ० १।७१।७॥

४. (हिरण्यस्तूपः) यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून्।

ऋ० २।१२।३॥

५. (गृत्समदः) यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान् अवासृजत् सर्तवे सप्त सिन्धून्। वामदेवो गौतमः। ऋ० २।१२।१२॥

६. अहन् अहिम् अरिणात् सप्त सिन्धून् अपावृणोद् पिहितेव खानि।

ऋ० ४।२८।१॥

७. य ऋक्षाद् अंहसो मुचद्। योवार्यात्सप्त सिन्धुषु।

ऋ० ८।२४।२७॥

८. पूषा विष्णुर्हवनं मे सरस्वती अवन्तु सप्त सिन्धवः।
आपो वातः पर्वतासो वनस्पतिः शृणोतु पृथिवी हवम्॥४॥

ऋ० ८।५४।४॥

९. अस्मा उषास आतिरन्त यामम् इन्द्राय नक्तमूर्म्याः सुवाचः।
अस्मा आपो मातरः सप्त तस्थुर्नृभ्यस्तराय सिन्धवः सुपाराः॥

ऋ० ८।९६।१॥

१०. सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ॥ ऋ० ८ । ६९ । १२ ॥

११. स सप्तधीतिभिर्हितः नद्योऽजिन्वद् अद्रुहः ।
य एकमक्षि वावृधुः । ऋ० ९ । ९ । ४ ॥

१२. अयं सूर्यं इवोपदृग् अयं सरांसि धावति ।
सप्त प्रवतः आदिवम् । ऋ० ९ । ५४ । २ ॥

१३. तवे मे सप्त सिन्धवः प्रशिषे सोम सिस्रते ।
तुभ्यं धावन्ति धेनवः । ऋ० ९ । ६६ । ६ ॥

१४. तस्येदिमे प्रवणे सप्त सिन्धवः वयो वर्धन्ति वृषभस्य शुष्मिणः ।
ऋ० १० । ४३ । ३ ॥

१५. अहं सप्त स्रवतो धारयं वृषा द्रवित्न्वः पृथिव्यां सीरा अधि ।
ऋ० १० । ४९ । ९ ॥

ये १५ स्थल वेद में हैं जहाँ 'सप्त सिन्धवः', सप्त नद्यः, 'सप्त प्रवतः, सप्त स्रवतः इन नामों से सात नदियों को कहा गया है ।

आचार्य सायण ने इन स्थलों पर निम्नलिखित अर्थ किये हैं—

(हिरण्यस्तूप आंगिरसः)

१. (ऋ० १ । ३२ । १२)

अवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून्—इमं मे गंगे (ऋ० सं० १० । ७५ । ५) इत्यस्यामृचि गंगाद्याः सप्त संख्याकाः नदीः सर्तवे सर्तुं प्रवाहरूपेण गन्तुम् अव सृजः त्यक्तवान् । इन्द्रः ।

२. त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून् (ऋ० १ । ३५ । ८)—सविता सप्त सिन्धून् गंगादि नदीः समुद्रान् वा अख्यत् ।

(पराशरः शाक्त्यः)

३. (ऋ० १ । ७१ । ७) समुद्रं न स्रवतः सप्त यह्वीः—यथास्रव-न्त्यो नद्यः समुद्रमभिगच्छन्ति तद्वत् । कीदृश्यो नद्यः सप्त

सप्त संख्याकाः। इमं मे गंगे इत्यस्यामृचि सप्त हि नद्यः प्राधान्येन सूच्यन्ते। यह्वीः महन्नामैतत्। महत्यः।

(गृत्समदः)

४. (ऋ० २। १२। १) यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून्। यः अहिं मेघं हत्वा मेघहननं कृत्वा सप्त सर्पणशीलाः सिन्धून् स्यन्दनशीलाः अपः अरिणात् प्रैरयत्। यद्वा सप्त गंगा यमुनाद्याः मुख्याः नदी अरिणात्। रीङ् स्रवणे क्र्यादिः।

(वामदेवः)

५. (ऋ० ४। २८। १) अहन्नहिमरिणात् सप्त सिन्धून्। अहिम् वृत्रम् असुरम् अहन् हतवान्। सप्त सर्पणशीलाः सिन्धून् अपः अरिणात् प्रैरयत्।

इस मंत्र की ४ संख्या वाले मंत्र भाग से तुलना करो।

(गृत्समदः)

६. (ऋ० २। १२। १३) यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान् अवासृजत् सर्तवे सप्तसिन्धून्। यः सप्तरश्मिः सप्तसंख्याकाः पर्जन्याः रश्मयः यस्य ते च रश्मयः वराहवः स्व तपसो विद्युन्महसो धूपयः। श्वापयो, गृहमेधाश्च इत्येते ये चेमेऽशिमिविद्विषः, पर्जन्या सप्त पृथिवीमभिवर्षन्ति वृष्टिभिः। तै० आ० १। ९। ४, ५। इति तैत्तिरीयारण्यके ह्याम्नाताः। वृषभः वर्षकस्तुविष्मान् वृद्धिमान् बलवान् वा सप्त सर्पणस्वभावान् सिन्धून् अपः सर्तवे सरणाय अवासृजत् अवसृष्टवान्, यद्वा गंगाद्याः सप्त मुख्याः नदीरसृजत्।

(विश्वमना वैयश्वः)

७. (ऋ० ८। २४। २७) य ऋक्षाद् अंहसो मुचद् यो वार्यात् सप्त सिन्धुषु॥ यः इन्द्रः सप्त सिन्धुषु गंगाद्यासु नदीषु यद्वा सप्त सर्पणशीलासु सिन्धुषु तत्कूलेष्वित्यर्थः। गंगायां घोष इति वत। तेषु वर्तमानानां स्तोतॄणाम् आर्यात् धनादिकं प्रैरयत्।

८. (ऋ० ८ । ५४ । ४) अवन्तु सप्त सिन्धवः । (वालाखिल्येसायण भाष्यं नास्ति) अवन्तु श्रृण्वन्तु । अवतिरत्र श्रवणकर्मा श्रवरक्षणगति इत्यस्मिन् सूत्रे श्रवणाभिधानात् । किं च सप्त सप्तसंख्याकाः सिन्धवो गंगाद्या नद्यः आपः जलाभिमानिन्यो देवताः वातो वायुः—मे हवनं श्रृण्वन्तु ।

९. (ऋ० ८ । ९६ । १) अस्मा आपो मातरः सप्त तस्थुः नृभ्यस्तराय सिन्धवः सुपाराः । आपः सर्वतो व्याप्ताः मातरः जगतां निर्मात्र्यः सप्त सप्तसंख्याका सिन्धवः स्यन्दमानाः गंगाद्या नद्यः । यद्वा सप्त सर्पणशीलाः सिन्धवः सरितः तासाम् आवरकस्य अहेर्हननोत्पादकत्वात । अस्मै इन्द्राय मनुष्याणां सुखेन तरणार्थं सुपाराः शोभनपाराः सुखेन तर्तुं योग्या अभवन् इत्यर्थः ।

१०. (ऋ० ८ । ६१ । १२) सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ।

हे वरुण जलाभिमानिम् देव त्वं सुदेवोऽसि । ते तव काकुदं तालुं समुद्राख्यं सप्त सिन्धवः गंगाद्या नद्यः अनुक्षरन्ति जिह्वायां सर्वदा स्रवन्ति ।

११. (ऋ० ९ । ९ । ४) स सप्त धीभिर्हितः नद्योऽजिन्वद् अद्रुहः । य एकमक्षि वावृधुः । या नद्यः एकं मुख्यं सोमम् अक्षि अक्षीणम् ववृधुः वर्धयन्ति स सोमः धीतिभिः अंगुलीभिः हितः निहितः सन् अद्रुहः द्रोहवर्जिताः सप्त सप्तसंख्याकाः नद्यः नदीः अजिन्वत् प्रीणयति ।

१२. (ऋ० ९ । ५४ । २) अयं सरांसि धावति सप्त प्रवतः आदिवम् । अयं सोमः सरांसि त्रिंशदुक्थपात्राणि इति केचिद् अपरे तु त्रिंशदहोरात्राणि सरांसीति तानि धावति गच्छति । तथा च यास्कः तत्रैतद् याज्ञिकाः वेदयन्ते त्रिंशदुक्थपात्राणि माध्यंदिने सवने एकदेवतानि तान्येतस्मिन् काले एकेने प्रतिधानेन पिबन्ति ।

तान्यत्र सरांसि इत्युच्यन्ते । त्रिंशदपरपक्षस्याहोरात्रास्त्रिंशत् पूर्वपक्षस्येति नैरुक्ताः । अपि चायं सोमः दिवम् अधिकृत्य सप्त प्रवतः सप्त नदीः आ तिष्ठति ।

(वैखानसाः)

१३. (ऋ० ९ । ६६ । ६) तवेमे सोम सप्त सिंधवः प्रशिषं सोम सिस्रते । इमे इमाः त्वयासृष्टाः सप्त सप्त संख्याकाः सिन्धवः स्यन्दमानाः गंगाद्या नद्यः,यद्वा सप्त सर्पणशीला नद्यः तव प्रशिषम् प्रशासनम् आज्ञामभि सिस्रते अनुसरन्ति । त्वदाज्ञामनुसृत्य समुद्रं गच्छन्तीत्यर्थः ।

१४. (ऋ० १० । ४३ । ३) तस्येदिमे प्रवणे सप्त सिन्धवः वयो वर्धन्ति वृषभस्य शुष्मिणः ।
तस्येत् इन्द्रस्यै एमे प्रसिद्धाः सप्त संख्याकाः सिन्धवः नद्यः प्रवणे देशे वयः अन्नं वर्धन्ति वर्धयन्ति ।

१५. (ऋ० १० । ४९ । ९) अहं सप्त स्रवतो धारयं वृषाद्रवित्वः पृथिव्यां सीरा अधि । अहं सप्तस्रवतः स्रवतीर्नदीर्धारयम् अधारयम् । कीदृश्यस्ताः द्रवित्वः द्रवन्तीः । सीराः सरणशीलाः । कुत्र पृथिव्याम् ।

सायणाचार्य ने इन १५ स्थलों में से ६ स्थलों में 'सप्त' का अर्थ केवल सात संख्या को ही नहीं माना प्रत्युत सप्त का सर्पण-शील, 'सरकने वाला' अर्थ किया है। शेष स्थलों पर सप्त से सात अर्थ लेकर गंगा आदि ७ नदियां अर्थ किया है। भाष्यकार की वह भाष्यशैली है कि सप्त से उसने सर्वत्र "इमं मे गंगे यमुने सरस्वती०" इत्यादि (१० । ७५ । ५) मन्त्र में पठित नदियों को मान लिया है और सर्वत्र नदी ही माना है। अन्य अर्थ नहीं किया है। इतने प्राचीन विद्वान् लोग इन सरस्वती आदि नदी से क्या

लेते थे इसका निश्चय नहीं होता है। इसके लिए हमें अधिक विस्तृत अध्ययन का आश्रय लेना चाहिए। वेदांग निघण्टु में नदी के ३७ नाम हैं जिनमें सरितः, सिन्धवः, सीराः, कुल्याः, स्रवन्त्यः, नद्यः ये प्रसिद्ध हैं? शेष अनेक अप्रसिद्ध हैं। अभी उन पर विचार नहीं किया है, यहां तो विचार करना भी नहीं है; क्योंकि हमारा विचार 'सप्त नद्यः' 'सप्त मातरः' और 'सप्त हरितः' पर है।

१. सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य। ऋ० १।५०।८

२. अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः।१।५०।९।

यहां—'हरितः' 'रश्मयः'।

३. अस्मा आपो मातरः सप्त तस्थुः। ऋ० ८।१६।१॥

यह मन्त्र पूर्व दिखा चुके हैं। इसमें 'नद्यः' पद भी है।

४. जज्ञानः सप्त मातरो वेधामशासत श्रिये। ऋ० ९।१०२।४॥

यहां सायण 'सप्त मातरः सप्त संख्याकाः गंगाद्या नद्यः सप्त च्छन्दांसि वा' लिखता है।

इससे भी सात नदी वाला सिद्धान्त सायण पुष्ट नहीं करता, वहां भी छन्दस् का पक्षान्तर मान लिया है।

श्री पंडित सातवलेकर जी का मन्तव्य जो कि उन्होंने संवत् १९९८ विक्रमी तदनुसार १९४१ सन् ईस्वी में दैवतसंहिता के प्रथम खंड की भूमिका (पृष्ठ ४३—४४) में दिया है इस प्रकार है—

सप्त नद

आत्माग्नि मध्य में है। उस उद्गम स्थान से सात प्रवाह चलते हैं। १. अहंकार, २. मन, ३. श्रोत्र, ४. स्पर्श, ५. नेत्र, ६. रसना, ७. नासिका। १ अहंकार की नदी घमंड के क्षेत्र में बह रही है। (२) मन का नद मनन के प्रदेश को सिञ्चित करता है। (३) श्रोत्र की नदी कानों के द्वारा प्रवाहित होकर शब्द की भूमि

(विषय देश) में बह रही है। (४) स्पर्श की नदी चर्म मार्ग से स्पर्श के प्रदेश में फैल रही है। (५) नेत्र की नदी दृष्टि के मार्ग से दर्शन क्षेत्र में प्रवाहित हो रही है। (६) रसना नदी रुचि के क्षेत्र में जिह्वा के स्थान से व्याप्त हो रही है। इसी प्रकार (७) नासिका द्वारा सुवास के द्वारा नासा नदी बह रही है। प्रत्येक नदी का क्षेत्र भिन्न भिन्न है। ये सात नदी हैं। जो आत्मा के स्थान से बह रही हैं। सुषुप्त अवस्था में वे सातों नदियां अन्तर्मुख होकर उल्टी बहने लग जाती हैं और आत्मा में मग्न हो जाती हैं। परन्तु जागृत दशा में आत्मा से बहिर्मुख होकर फिर प्रवाहित होकर जगत् में कार्य करने लग जाती हैं।

प्रतिदिन इन सातों नदियों का प्रवाह हर एक के अनुभव में आता है। इन प्रवाहों के उलटा चलने का ही नाम 'सुषुप्ति' और इनके प्रवाह के बाहर की ओर बहने का ही नाम 'जागृति' है।

प्रत्येक नदी के तट पर एक एक ऋषि बसा है, जो वहां तप कर रहा है। ये सात ऋषि जीवनरूप महायज्ञ में यजन कर रहे हैं। जिस समय ये सातों ऋषि थककर सो जाते हैं, उस समय तथा अन्य समय में भी इस देह रूप महान् यज्ञ में दो देव जागते हैं। इन देवों का नाम प्राण, उदान एवं श्वास, उच्छ्वास है। जन्म से मरने तक ये दोनों देव जागते हैं और खड़े खड़े पहरा देते हैं।

ये ही आत्मा के सात हाथ हैं, सात जिह्वाएं हैं, सात नदियां, सात जल प्रवाह हैं, सात ऋषि हैं, सप्त रश्मि हैं, सात यज्ञ संस्था हैं। इनको 'सात घोड़े, सप्त हरितः, सप्त स्वसारः, सप्त ऋत्विजः, सप्त होतारः, सप्त दोग्धारः, कहा है।

इसका सबसे सुन्दर व्याख्यान पाणिनि व्याकरण के महाभाष्य के कर्ता पतंजलि ऋषि ने ऋग्वेद का एक मन्त्र उद्धृत करके दर्शाया है, इससे वैदिक ऋषियों की विचारधारा की सत्य सरणि का

ज्ञान होता है। 'शब्दानुशासन' में प्रयोजन का विचार करते हुए १३ वां प्रयोजन 'सुदेवो असि वरुण' है। यह ऋग्वेद के मन्त्र की प्रतीक मात्र है। पूर्ण मन्त्र देते हुए भाष्यकार लिखते हैं—

सुदेवो असि। सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ॥ (ऋ०८।६९।१२)

सुदेवोऽसि वरुण सत्यदेवोऽसि । यस्य ते सप्त सिन्धवः, सप्त विभक्तयः अनुक्षरन्ति काकुदम् । काकुदं तालु । काकुर्जिह्वा सा अस्मिन् उद्यते इति । इति काकुदम् । सूर्म्यं सुषिरामिव । तद्यथा शोभनाम् उर्मिम् सुषिराम् अग्निरन्तः प्रविश्य दहति एवं ते सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयः तालु अनुक्षरन्ति, तेनासि सत्यदेवः । सत्यदेवाः स्याम इत्यध्येयं व्याकरणम् ।

अर्थात्—हे वरुण आत्मन् ! विद्वान् श्रेष्ठ पुरुष ! तू सुदेव है, तू सत्य देव है। सात सिन्धु सात विभक्तियां तेरी सात विभक्त हुई शक्तियां है जो काकुद अर्थात् तालु की तरफ को बह आती हैं। 'काकुद' तालु कहाता है, क्योंकि काकु नाम जिह्वा का है। वह उसमें प्रवचन करती है। जिस प्रकार उत्तम छिद्रयुक्त तप्त लोहे की नाली में अग्नि प्रविष्ट होकर उसके छिद्रों से चमकती है उसी प्रकार आत्मा के मध्य ही मुख्य प्राण द्वारों से बाहर को निकल कर प्रकट होते हैं। प्राण शक्ति के विभाग के समान ही शब्द-शास्त्र में शब्द की शक्ति को प्रकट करने वाली सात विभक्तियां हैं, वे ही मुख द्वारा तालु के पास आकर व्यक्त होकर जिह्वा द्वारा बोले जाकर सरस्वती वाग् के सात प्रवाह होकर ज्ञान कराते हैं। उनका ठीक ठीक प्रयोग करने से प्रयोक्ता यथार्थ वाग्विद् होकर सुदेव। सत्य देव हो जाता है।

आत्मा की शक्तियां ही इन्द्रियों के रूप में प्रकट हुई हैं और वे नालिका, कुल्या या नहरों के रूप में बाहर बहती हैं। यह तथ्य दार्शनिक रूप में योग दर्शन में व्यास देव अपने भाष्य में प्रकट करते हैं। व्यास के शब्द-संनिवेश दर्शनीय हैं—

इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् सामान्य विशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम् ।............ अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम् । इत्यादि ।

इन्द्रिय प्रणाली से चित्ततत्व बाह्य वस्तु के सम्पर्क से उसी रूप का होकर सामान्य विशेष का ज्ञान करता है वह प्रत्यक्ष है। अशुद्धि के आवरण से रहित प्रकाशरूप बुद्धि सत्व, रजस्, तमस् से अपराजित होकर स्वच्छ स्थिति का प्रवाह चित्त की 'विशारदता' है इत्यादि में इन्द्रियनालिका से चेतना तत्व का सात मार्गों में प्रवाहित होते अनुभव करना वैदिक अनुभव वेदोपदिष्ट है।

वेद साहित्य में इन्द्र आत्मा है। वह स्वयं इन सात प्रवाहों को बहाता है। ऋ० ४। २८। १ में स्पष्ट लिखा है—

अहन् अहिम् अरिणात् सप्त सिन्धून् अपावृणोद् अपिहितेव खानि ।

इन्द्र ने सात सिन्धुओं को चलाया। बन्द हुए इन्द्रियों के मार्गों को खोल दिया।

इन्द्रियों के लिए 'खानि' यह प्रयोग उपनिषदों में भी वैसा ही प्रयोग किया है।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः । कठोपनिषद् ॥

आत्मा ने अपने इन्द्रियों को बहिर्मुख खोल दिया है।

इस प्रकार सात नदियों, सात सिन्धुओं का रहस्य स्पष्ट हो जाता है। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वेद में नदी आदि शब्द

कोई ऐतिहासिक या भौगोलिक अनित्य पदार्थ का नाम नहीं है। प्रत्युत उन नामों का आध्यात्मिक महत्व है। इनमें से सरस्वती तो वाग् स्पष्ट है। नासिका द्वार से प्रवाहित गन्ध ग्राहक प्रवाह गंगा है, श्रवण द्वारा प्रवाहित यमुना है। स्पर्शेन्द्रिय शतद्रू है। मूर्धा की ओर जाने वाली विपाशा है। देह के अन्य ज्ञान केन्द्रों से प्रसृत ज्ञानतन्तु प्रवाहों के भी अन्य अनेक नाम हैं, इन का विवेचन भी पृथक् एक विषय है।

प्रसंग से इस वैदिक विषय पर अध्यात्मतत्ववेदी योगी अरविन्द के अनुभव संम्पन्न वैदिक अनुशीलन को भी संक्षेप से रख देना अप्रासंगिक नहीं होगा। श्री कपाली शास्त्री ने अरविन्द के सिद्धान्तानुसार ऋग्वेद संहिता के भाष्य की भूमिका में (पृष्ठ ७७। ७८) में लिखा है।

ये सात नदियां या आपः या दिव्य आपः हैं। वे उच्च धाम से अग्नि को लाती हैं, वह अग्नि दिव्य तत्व हैं, जो पृथिवी में ओषधियों में निहित है। द्यौ पृथिवी दोनों, दो अरणियां हैं उनके बीच वह प्रकट होता है। इसी से अग्नि को द्यौः, पृथिवी का शिशु कहा है। शुद्ध सत्व मन वाली चित् ही द्यौः है। पार्थिव मनः प्रज्ञावाली 'चित्' पृथिवी कही जाती है। दोनों के व्यापार से मर्त्य अग्नि को निष्पन्न करे। वह अग्नि दिव्य भावों में सुख से उत्पन्न होता है। वह स्वभावतः शुभ्र और अरुण होता है। उसके देवगण तेज, बल वपुः देते हैं। सात बड़ी नदियां (धेनाएं) उसको बढ़ाती हैं, वे धेनु, धेना, सिन्धवः, अप्याः इन नामों से कही गई हैं। धेनु का पर्याय गौ, ज्ञान, शक्ति का संकेत है। अश्व क्रियाशक्ति का संकेत है। प्राण में विद्यमान कारक शक्ति 'अश्व' है। अग्नि के आधान और उत्पन्न होने में 'आपः' रूप धेनुएं प्राण का स्वरूप हो जाती है। वह प्राण श्वास लेता है, क्रिया करता है, कामना या इच्छा

करता है) भोग करता है, वा पार्थिव अग्नि 'धर्म' होकर प्राण बनता है। वही स्वर्ग्य अग्नि है। वह सात प्रकार के 'आपः' ऊपर उठ कर शुद्ध सत्वमय 'यह्वीः' सात महती शक्तियां हैं। उनका उद्भव स्थान सत्य प्रज्ञान ही है। उसी से वे बहती हैं। सर्वेश्वर देव (वरुण) की वे सात वाग्, सात वाणी, विसृष्टि रूप में आविष्कार करने वाली शक्तियां हैं। सबका पिता प्रभु परमेश्वर, परम पुरुष है, वह गूढ़ रूप से उस धाम में है जहां से सब रहस्य प्रकट करता है। वह धाम उसका परम चित् रूप है। अग्नि अपने सखा रूप देवों, प्राणों के बल से और अपने साथ 'आपः' के बल से उस पद तक पहुंचता है। वह अग्नि का स्वर्गारोहण हम मर्त्य मानवों में पृथिवी शब्द से कथित जागरित स्थान की प्रज्ञा को को साथ लेकर रहता है। अग्नि उस स्वर्गारोहण द्वारा सब वस्तुओं के मूलभूत सुसमृद्ध मधु का मूल पाकर हमारे प्राणों में मधुओं को लेकर बर्षा करता है। वह स्वयं गर्भ धारण करके पुत्र हो जाता है। वह नित्य कुमार है। वह शुक्र ज्योति है। वह शुभ्र पुरुष है। वह एक आत्मा वैश्वानर रूप से मानव मर्त्य में अमर्त्य (आत्मा) होकर रहता है।

वेद में आये अग्नि के विशेषण कविक्रतु, दिव्य शिशु, उसका यह जन्म, उसका पोषण, आर्यों से उसका वर्धन, नदीयों का आपः होना, वे ही धेनु हों, वे ही अश्व, इत्यादि संकेतों के रहस्यार्थ लिये बिना तात्पर्य की संगति नहीं लगती। यदि संकेत रहस्य के बिना इन पदों का दूसरा अर्थ करने का यत्न करेंगे तो असंभावित सी कल्पना होगी। मन्त्र द्रष्टा लोगों के मन्त्र उन्मत्त प्रलाप से हो जावेंगे।

अनेक मन्त्रों में इन रहस्यों का स्पष्टीकरण हुआ है। (समुद्रादूर्मि०) इस मन्त्र से लेकर (तमश्याम मधुमन्तं त ऊर्मिम्)

इस मन्त्र तक वामदेव सूक्त में वेद का रहस्य स्पष्ट हुआ है और भी कि "घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति" जिह्वा देवनाम् अमृतस्य नाभिः० एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्रात्० । घृतस्य धाराः० सरितो न धेना, अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः । अग्नि योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्०, इत्यादि वेद वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि घृत, मधु धेनु, आपः, योषाः, हृत् । अन्त, समुद्र, इत्यादि शब्द बड़े रहस्य को स्पष्ट करते हैं। (पृ० ७७-७८)

श्री अरविन्द के सिद्धान्तानुसार भी 'सप्त नद्यः' आदि पद भौगोलिक अनित्य नदियों के लिए नहीं आता है।

अब हम ऋग्वेद के उस मन्त्र पर ही विचार करते हैं जिसके आधार पर सायणाचार्य ने सर्व प्रथम और उसके पीछे चलने वाले योरोप के विद्वान् और उनके पिछलग्गू श्री सत्यव्रत सामश्रमी, क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, सद्गुरुशरण अवस्थी, श्री निवासाचारी, श्री सम्पूर्णानन्द, श्री सत्यनारायण दुबे आगरा कालेज, मिश्रबन्धु, श्री गंगाप्रसाद मेहता काशी विश्वविद्यालय आदि आदि उच्चकोटि के धुरन्धर विद्वानों ने वेद के सप्त सिन्धु, सप्त नद आदि शब्दों से भौगोलिक नदियां मानकर वेद के आधार पर अनेक प्रकार का इतिहास कल्पित किया है और अच्छे अच्छे ग्रन्थ बनाकर प्रतिष्ठा प्राप्त की है। प्रायः सभी ने भारत के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालते हुए ऋग्वेद के उक्त मन्त्र को अपने मन्तव्य का आधार माना है।

इनके लेखों में परस्पर का सूक्ष्म विरोध है, इसका हम यहां विवेचन नहीं करेंगे। तो भी उनके परस्पर लेखों में मतभेद है। यह मतभेद ही उनके मन्तव्यों की निर्बलता को प्रमाणित करता

है। इस मतभेद पर प्रकाश डालना भी एक पृथक् विषय है। उसे छोड़ कर हम तो वेदमन्त्र से सम्बद्ध अंश पर ही यहां प्रकाश डालना चाहते हैं।

ऋ० मंडल १० । सूक्त ७५ । मन्त्र ५ पर विचार—

मन्त्र इस प्रकार है—

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥
(ऋ० १०।७५।५)

इस मन्त्र का ऋषि है 'सिन्धुक्षित् प्रैयमेध" अर्थात् प्रियमेध का पुत्र सिन्धुक्षित्। देवता है 'नद्यः'। अनुक्रमणी में लिखा है—(प्रसु नव सिन्धुक्षित् प्रैयमेधो नदीस्तुतिर्जागतं तु) अर्थात् 'प्रसु'० इत्यादि नौ मन्त्र हैं। इनका द्रष्टा सिन्धुक्षित् प्रैयमेध है।

इस में नदीस्तुति है। जगती छन्द है। समस्त सूक्त में कहीं सप्तसिन्धु या सप्तनद नाम नहीं है। ५ वां मन्त्र आपके समक्ष है। प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, षष्ठ, सप्तम, अष्टम और नवम मन्त्रों में सिन्धु का ही वर्णन है। छठे मन्त्र में तृष्टामा, सुसर्तू, रसा, श्वेती, कुभा और महेत्नु ये ६ नदी सहायक बतलाई हैं। इस प्रकार ये सात नदी हो जाती हैं। इसी प्रकार 'इमं मे गंगे'० इस मन्त्र में दस नदियों का नाम है। जिनमें असिक्नी, मरुद्वृधा की सहायक वितस्ता और सुषोमा, आर्जिकीया की शाखा होकर सात नदियां हो जाती हैं। पर वे सब एक देश में नहीं है, उनका क्षेत्र बहुत विस्तृत है और उनका किसी एक नदी में मेल नहीं है।

एक ही सूक्त में सिन्धु को एक स्थान पर पुल्लिंग कहा है दूसरे मन्त्र में (८) उसी को स्त्रीलिंग कहा है, अस्तु।

अब तृतीय में मन्त्र का अर्थ लीजिए—सायण कहते हैं—इस मन्त्र में प्रधान सात नदियां और उनके अवयव या अंगरूप तीन

नदियां वर्णित हैं। हे गंगे, हे यमुने, हे सरस्वति,हे शुतुद्रि, हे वरुणि, हे असिक्नी के साथ मरुद्वृधे, हे वितस्ता और सुसोमा के साथ आर्जिकीये! इस प्रकार सातों नदियो! आप लोग मेरे स्तोम (स्तोत्र) को सेवन करो और सुनो।

वितस्ता और सुषोमा के साथ आर्जिकीया का संयोग तो निरुक्त में यास्क ने भी कहा है।

वितस्तया चार्जिकीये आशृणुहि सुषोमया च इति। अत्र गंगा गमनात्। निरु० ९। २६॥ इत्यादि॥

निरुक्त का पाठ इस प्रकार प्रारम्भ होता है—

नद्यो व्याख्याताः। (२। २४) तासामेषा भवति।

इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।

असिक्न्यामरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणु ह्यासुषोमया॥

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि परुष्णि स्तोममासे वध्वम् असिक्न्या च सह मरुद्वृधे, वितस्तया चार्जीकीये आशृणुहि सुषोमया चेति समस्तार्थः।

अर्थ—हे गंगे, यमुने, सरस्वति, शुतुद्रि, परुष्णि। आप सब मेरा स्तोम (स्तोत्र) सेवन करो। हे असिक्नी के साथ मरुद्वृधे! वितस्ता और सुषोमा के साथ आजिकीये! आप मेरा स्तोम सुनो। यह मन्त्र का पूरा अर्थ है। इसके आगे यास्क ने गंगा आदि वैदिक शब्दों के निरुक्त दिये हैं जिससे इन शब्दों का क्या अभिप्राय लेना यह स्पष्ट हो जाता है।

पाठकों को विदित है कि 'सरस्वती' शब्द पर विचार करते हुए सरस्वती का वर्णन वेद में दो प्रकार से आया है। नदीवद् और देवतावद् उसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए कि गंगा, यमुना आदि पदों से वर्णन करने योग्य तत्व का निरूपण, वेद ने नदीवत् किया है। यदि नदियों का ही वर्णन करना था तो केवल

'सिन्धु' का सूक्त के ९ मन्त्रों में से सात मन्त्रों में वर्णन न करके अन्य अनेकों का वर्णन कर सकता था। उन सब नदियों का स्तोत्र सुनाने और सेवन कराने का ऋषि का कोई प्रयोजन दृष्टिगोचर नहीं होता। इसलिए ये सब नामभेद नदियों के नाना प्रकारों का वर्णन करते हैं और साथ ही उपमा-रीति से वे अपने प्रतिपाद्य निगूढ तत्व का भी उपदेश करते हैं। गूढतत्व तक पहुंचने के लिए निरुक्त ने गंगा आदि शब्दों के पृथक् पृथक् निर्वचन दिये हैं। जिन भाष्यकारों ने इन नामों को केवल विशेष नदियों के नाम मान लिया है। उनके लिए निर्वचनों का कोई प्रयोजन शेष नहीं रहता। निरुक्तकार का निर्वचन लिखना ही इस बात का द्योतक है कि इनसे केवल नदीनाम न लेकर उपमान शैली से तत्व का ज्ञान करना चाहिए। जैसे—

१. गंगा गमनाद्। (२) यमुना प्रयुवति, गच्छतीति वा। (३) सरस्वती सर इत्युदक नाम सर्तेः। तद्वती। (४) शुतुद्री शुद्राविणी, क्षिप्रद्रावणी आशुतुन्ना इव द्रवतीति वा (५) इरावतीं परुष्णी इत्याहुः। पर्ववती भास्वती, कुटिलगामिनी। (६) असिक्नी अशुक्ला, असिता। सितमिति वर्णनाम। तत्प्रतिषेधोऽसितम् (७) मरुद्वृधाः सर्वा नद्यः। मरुतः एना वर्धयन्ति। (८) वितस्ता विदग्धा, विवृद्धा, महाकूला। (९) आर्जिकीयां विपाड् इत्याहुः ऋजूकप्रभवा वा ऋजुगामिनी वा। विपाड् विपाटनाद्वा, विपाशनाद् वा, विप्रापणाद् वा, पाशा अस्यां व्यपाशयन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतः। तस्माद् विपाड् उच्यते। पूर्वमासीद् उरुंजिरा। (१०) सुषोमा सिन्धुः। यदेनाम् अभि प्रस्रवन्ति नद्यः। सिन्धुः स्यन्दनात्। निरुक्त अ० ५। २६॥

इस प्रकार वेद ने नदियों के दश प्रकारों का नाम संकीर्तनमात्र से उपदेश किया है। ये सब नदियां मेरे स्तोत्र, इस गुणवर्णन को ही लक्ष्य करती हैं। इसका श्रवण करना चाहिए, इसका रहस्य व विस्तार वर्णन अनुभववृद्धों से श्रवण

करना चाहिए। निरुक्तकार के निर्वचनों द्वारा यह दश प्रकार इस प्रकार हैं (१) गंगा—गति करने से गंगा। (२) यमुना—मिलती है या फटती है दोनों गुणों से नदी यमुना कहाती है। (३) सरस्वती—जिसका सदा जल रहे, वह सरस्वती है। (४) शीघ्र चलने वाली शीघ्र परप्रेरित सी होकर वेग से जावे, वह 'शुतुद्री' है। (५)—इरावती को परुष्णी कहा है, वह पोरु पोरु से जुड़ी मालूम होती है, या स्थान २ पर चमकती है, या टेढी जाती है, (६)—असिक्नी वह नदी है जो श्वेत नहीं है, सित एक रंग का नाम है, उसका न होना 'असित' कहा जाता है। (७)—मरुद्वृधा तो सभी नदियां है, क्योंकि मरुत् वे वायुएं जो वर्षा लाती हैं वे इन नदियों को बढ़ा देती हैं। (८)—वितस्ता जो विशेष रूप से दग्ध हो; अर्थात् जिसमें तप्त जल बहे अथवा जो विशेष रूप से बड़ी या जिसका तट बहुत बड़ा या ऊंचा हो। (९)—आर्जिकीया को विपाट् नदी कहते हैं। विशेष कन्द से उत्पन्न को भी 'आर्जिकीया' कहते हैं, वा वे नदी अधिक ऋजु अर्थात् सरल मार्ग से चलें जो बहुत तुडें मुडे नहीं। (१०)—विपाट नदी को इसलिए कहते हैं वह जमीन फाड़ कर बहाई जाती है या जो नहर के समान भूमि काटकर या खोद कर बनाई जावे। या वह है जो पाशों या बन्धनों को तोड़ दे। जो करारे या बांधों को तोड़ दे। इसमें मरण काल में वसिष्ठ के पाश टूट गये थे, इसलिए भी इस को 'विपाश्' कहते हैं उसका यास्क से पूर्व 'उरुंजिरा' नाम था (११)—सुषोमा 'सुसोमा' नाम सिन्धु नदी का है। इसलिए उसे सुषोमा कहते हैं। नदियां उसकी ओर बही चली आती हैं। सिन्धु इसलिए कहते हैं कि स्यन्दन अर्थात् प्रवाहशील है।

यास्क ने नदियों के नामों की निरुक्ति दी, उसकी नदी पक्ष में में योजना हमने दी है। परन्तु यास्क के निर्वचन नदियों तक

सीमित नहीं हैं। उनका अध्यात्म पक्ष की योजना में ही मुख्य उपयोग है। अध्यात्म में नदी ये शरीरगत नाडियां हैं, ये 'नदी' इसलिए हैं कि (नदन्ति) ये नाद करती हैं, इनकी ध्वनि कान को बंद करके भी सुनाई देती है। इतना जान लेने पर उक्त मन्त्र का अर्थ यह है—

हे (गंगे यमुने) हे गंगा, अर्थात इडा नाडि, हे (यमुने) पिंगले ! शुतुद्रि, परुष्णि, सरस्वती, शुतद्र तथा परुष्णी नाम की सुषुम्ना नाडी ! तुम मेरे इस स्तोम स्तुति अर्थात वेद मन्त्र में कहे गुण वर्णन को (आ सचत) प्राप्त करते हो, यह गुणवर्ण इन नाड़ियों का ही है। हे मरुद्वृधे ! हे सुषुम्ना तू (असिक्न्या) पिंगला के साथ और हे (आर्जिकीये) आर्जिकीया, इडा तू (वितस्तया सुषोमया) वितस्ता नामक सुषुम्ना के साथ मिली हुई (आ शृणुहि) मेरे इस वर्णन को श्रवण कर।

वेद में आये गंगादि पदों के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द की सम्मति

ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के ग्रंथ प्रामाण्या-प्रामाण्य विषय में ऐतिहासिक नामों तथा तथाकथित ऐतिहासिक कथानकों को पूर्व पक्ष में रखकर उनके अलंकार स्पष्ट करके बड़ी उत्तमता से सत्य तीर्थों का प्रतिपादन किया है। वहाँ गंगा आदि नदियों के सम्बन्ध में लिखा है—

ननु, इमं मे गंगे यमुने सरस्वतीति (ऋ० १०) गंगादि नदीनां वेदेषु प्रतिपादनं कृतमस्ति, त्वया कथं न मन्यते।

अत्रोच्यते। मन्यते तु मया तासां नदी संज्ञेति, ताः गंगादयो नद्यः सन्ति। ताभ्यो यथायोग्यं जलशुध्यादिगुणैर्यावान् उपकारो भवति

तावत् तासां मान्यं करोमि। न च पापनाशकत्वं दुःखात् तारकत्वं च। जलस्थलादीनां तत्सामर्थ्याभावात्। इदं सामर्थ्यं तु पूर्वोक्तेषु तीर्थेषु गम्यते नान्यत्रेति। अन्यच्च। इडा–पिंगला–सुषुम्ना–कूर्मनाड्यादीनां गंगादि-संज्ञास्तीति। तासां योगसमाधौ परमेश्वरस्यग्रहणात्। तस्य ध्यानं दु:खनाशकं मुक्तिप्रदं च भवत्येव। तासामिडादीनां धारणासिद्ध्यर्थं चित्तस्य स्थिरीकरणार्थं च स्वीकरणमस्तीति तत्र ग्रहणात्। एतन्मन्त्रप्रकरणे परमेश्वरस्यानुवर्तनात्। एवमेव 'सितासिते यत्र संगमे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति' एतेन परिशिष्टवचनेन केचिद् गंगायमुनयोर्ग्रहणं कुर्वन्ति। संगमे इति पदेन गंगायमुनयोः संयोगस्य प्रयागतीर्थमिति सञ्ज्ञां कुर्वन्ति। तन्न संगच्छते। कुतः। नैव तत्राप्लुत्य स्नानं कृत्वा दिवं द्योतनात्मकं परमेश्वरं सूर्यलोकं वोत्पतन्ति, गच्छन्ति किन्तु पुनः स्वकीयं स्वकीयं गेहमागच्छन्त्यः। अत्रापि सितशब्देन इडायाः, असितशब्देन पिंगलायाः ग्रहणम्। यत्र तु खल्वेतयोः नाड्योः सुषुम्नायां समागमो मेलनं भवति तत्र कृतस्नानाः परमयोगिनो दिवं परमेश्वरं प्रकाशमयं मोक्षाख्यं सत्य-विज्ञानं चोत्पतन्ति। सम्यग् गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति। अतोऽनयोरेवात्र ग्रहणं न च तयोः। अत्र प्रमाणम्। सितमिति वर्णं नाम, तत्प्रतिषेधोऽसितम् निरु० ९। २६। सितं शुक्लं वर्णम् असितं तस्य निषेधः। तयोः प्रकाशा-न्धकारयोः, सूर्यादि पृथिव्यादिपदार्थयोः यत्र ईश्वरसामर्थ्ये समागमो स्ति तत्र कृतस्नानाः सद्विज्ञानवन्तो दिवं पूर्वोक्तं गच्छन्त्येव।

भावार्थ इस प्रकार है—

(प्रश्न) इम मे गंगे०—इत्यादि मन्त्र में गंगा आदि नदियों का वर्णन वेदों में किया है, आप क्यों नहीं मानते ?

उत्तर—मैं मानता हूँ कि उनका 'नदी' नाम है। परन्तु वे गंगादि तो नदियां हैं। उनसे जितना ठीक ठीक जल शुद्धि आदि गुणों से जितना उपकार होता है उनका उतना ही मैं मान करता हूँ। उनको पापनाशक और दुःखों से तारक नहीं मानता हूँ।

क्योंकि जल स्थल आदि में वह सामर्थ्य नहीं है। वह सामर्थ्य तो पूर्वोक्त (प्राण, वेद, विज्ञान एवं परमेश्वर) तीर्थों में ही जाना जाता है अन्य स्थानों में नहीं। और भी यह कि इडा, पिंगला, सुषुम्ना और कूर्मनाडी आदि की गंगा आदि संज्ञा है। उनका योग-समाधि में और उन नामों से परमेश्वर का भी ग्रहण होता है। उसका ध्यान दुःखों का नाशक और मुक्ति देने वाला होता है। उन इडा आदि नाड़ियों का धारणादि की सिद्धि के लिए और चित्त को स्थिर करने के लिए स्वीकार किया है इसलिए उनका भी ग्रहण है। इस मन्त्र के प्रकरण में परमेश्वर की भी पूर्व से अनुवृत्ति है।

इसी प्रकार 'सितासिते०' इस परिशिष्ट वचन से कई लोग गंगा और यमुना का ग्रहण करते हैं। 'संगमे' इस पद से गंगा यमुना के संयोग का प्रयाग तीर्थ ऐसा नाम कर देते हैं। वह भी वेद में ठीक नहीं बैठता। क्योंकि वह स्नान करके 'दिव्' अर्थात् प्रकाशमय परमेश्वर या सूर्यलोक को नहीं जाते किन्तु लोग अपने अपने घरों को ही आते हैं।

यहां परिशिष्ट में भी सित शब्द से इडा का और असित शब्द से पिंगला का ग्रहण है। इन दोनों नाड़ियों का सुषुम्ना में जिस स्थान में मेल होता है वहाँ स्नान करके परमयोगी लोग 'दिव्' अर्थात् प्रकाशमय परमेश्वर मोक्ष नामक सत्य विज्ञान को भली भांति प्राप्त करते हैं। इसलिए उक्त दोनों नाड़ियों का ही यहां भी ग्रहण है। इसमें निरुक्त प्रमाण है। 'सित' यह वर्ण नाम है उसका न होना 'असित' कहा गया है। इन प्रकाश अन्धकार अर्थात् सूर्यादि पदार्थ और पृथिवी आदि पदार्थों में जहां ईश्वर के सामर्थ्य में सम्मिलन है, उस स्थान पर कृतार्थ होकर उसका ज्ञान मानने वाले पूर्वोक्त द्यौः को ही जाते हैं।

(टिप्पणी—खेद है कि इस स्थल का ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका

देह की नाड़ियों में ये नाम किस प्रकार गतार्थ हैं इसको इस प्रकार देखिए।

योग के ग्रंथों का इस प्रकार का मन्तव्य है कि—

इडा गंगेति विज्ञेया, पिंगला यमुना नदी।
मध्ये सरस्वतीं विद्यात् प्रयागादिसमस्तथा।

(शिवस्वरोदय श्लोक ३७४)

इडा पिंगला सुषुम्ना च प्राणमार्गव्यवस्थिताः ॥ ४१ ॥

(शिवस्वरोदय श्लोक ४१)

इसके अतिरिक्त और भी नाड़ियां हैं जिनके नाम वैदिक नामों से कुछ भिन्न हैं। जैसे—गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू, शंखिनी। इसके स्थान भी नियत हैं। जैसे—

इडा वामे स्थिता योगे पिंगला दक्षिणे स्मृता।
सुषुम्ना तु मध्यदेशे गान्धारी वामचक्षुषि ॥३८॥
दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे।
यशस्विनी वामकर्णे आनने चाप्यलम्बुषा ॥३९॥
कुहूश्च लिंगदेशे तु मूलस्थाने तु शंखिनी।
एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ति दश नाड़िकाः ॥४०॥

देह के वाम भाग में इडा है। दक्षिण (दाहिने) भाग में पिंगला है। मध्य भाग में सुषुम्ना है। वाम आंख में गान्धारी है। दक्षिण आंख में हस्तिजिह्वा हैं, दक्षिण कान में पूषा है। वाम कान में यशस्विनी है। मुख या जिह्वा ओष्ठ आदि में अलम्बुषा है। लिंग भाग में कुहू है। मूल स्थान में शंखिनी है। ये वे नड़ियां हैं जिनके द्वारा ज्ञान या ध्यान रस योग प्रक्रिया द्वारा प्रवाहित होता है। साधक इनको जागृत करके अनेक चमत्कारी सुखों का साक्षात् करता है।

में हिन्दी अनुवाद नहीं किया गया है इसलिए हिन्दी के पाठक श्री स्वामी दयानन्दजी के इन विचारों को जान भी नहीं पाते)।

मानव या प्राणियों के देहों में तीन प्रकार की व्यवस्था है, एक रक्तवाहिनी नाड़ियों की है, दूसरी ज्ञान वा चेतनावाही तन्तुओं का जाल है, तीसरा मांस पेशियों पर वश करनेवाला नाडीजाल है, इन सब पर प्राण का वश है। प्राण 'सिन्धु' है।

योग अभ्यास को लक्ष्य करके शिवस्वरोदय का लेख है—

इडायां तु स्थितश्चन्द्र पिंगलायां च भास्करः।
सुषुम्ना शंभुरूपेण शम्भुर्हंसस्वरूपतः ॥५०॥
आदौ चन्द्रः सिते पक्षे भास्करो हि सितेतरे ॥६२॥
परे सूक्ष्मे विलीयेत सा संध्या सद्भिरुच्यते ॥२६।

इडा में चन्द्र स्थित है, पिंगला में सूर्य, सुषुम्ना शंभु का स्वरूप है, शंभु हंस (आत्मा) का स्वरूप है चन्द्र और सूर्य के बल पर आत्मा परम सूक्ष्म में विलीन होता है उस दशा में 'सन्ध्या' कही जाती है। जो ऊपर तीन संस्थान कहे गये हैं, रुधिर-नाड़ी जाल। ज्ञान-तन्तु नाड़ी जाल और मांसपेशी-संचालन-वशीकरण-नाड़ी जाल, ये ही गंगा, सरस्वती और यमुना नाम से हैं। ये ही इडा, सुषुम्ना और पिंगला हैं। गंगा और यमुना इनको ही वेद में सिता, असिता भी कहा है।

इस सम्बन्ध में ऋग्वेद के १० । ९५ सूक्त के खिल में कहीं ऐसा मन्त्र भी उपलब्ध है—

सितासिते सरिते यत्र संगते तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति।
ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते॥

सिता और असिता इडा और पिंगला जहां ये दोनों नाड़ियां मिली हैं उन केन्द्र स्थानों पर जो व्यक्ति स्नान करते या मग्न होते हैं या जो अपना देह त्याग करते हैं वे धीर,ध्यानी जन अमृत = मोक्ष को प्राप्त करते हैं। यह वह केन्द्र है जहां सुषुम्ना नाड़ी है। सुषुम्ना शिरोभाग से चलकर मेरुदण्ड में से होती हुई त्रिक अस्थि के

अन्तिम छोर तक चली आती है। मध्य में अनेक केन्द्रों से देह में फैलती है। केन्द्र स्थान में इडा, पिंगला के केन्द्र भी संगत हैं। वहां ध्यान करते समय मनुष्य 'दिव्' तेजोमय तत्व का साक्षात् करता है वही उसका 'दिव्' के प्रति उत्पतन है और वहाँ उसे अद्भुत सुख प्राप्त होता है। उस दशा में देह पात होने पर फिर 'वासना-क्षय' अमृतत्व अर्थात् आत्मा का देहमय होकर उत्पन्न होने, मरने जीने का भाव नष्ट हो जाता है। यमुना-गंगा संगम जैसे प्रयाग तीर्थ है उसी प्रकार देह में इडा, पिंगला के संगमस्थान जिनमें सुषुम्ना सरस्वती का गुप्त रूप से योग होता है वह त्रिवेणी संगम के समान है। वह ही मोक्षदायक है। वस्तुतः, इस अध्यात्म त्रिवेणी के संगम प्रयागादि स्थान तो तत्सदृश होने से बाह्य प्रतीक मात्र हैं।

श्री पं० चन्द्रमणि पालिरत्न महोदय ने लिखा है कि सरस्वती शुतुद्री, परुष्णी, मरुद्वृधा, वितस्ता, सुषोमा ये छः नाम सुषुम्ना के लिए प्रयुक्त हुए हैं। तो असिक्नी यमुना का भेद है या अंग है। मेरे विचार में जो निरुक्ति यास्क ने दी है वे उपलक्षणमात्र हैं। इन शब्दों के अन्य भी निर्वचन सम्भव हैं, जिनसे इन नाड़ियों के देह में अन्य अनेक रहस्यमय वास्तविक कार्यों पर प्रकाश पड़ता है। ये सब नदियां या नाडियां तीन विभागों या वर्गों में विभक्त होती हैं। जैसे 'गंगा' रक्तवहा नाडी है, सर्वत्र 'सरकुलेशन ऑफ ब्लड'—रक्त संचार का काम करती है। उसमें रक्त या लाल रंग तो लाल कणों के संनिधान मात्र से है, वस्तुतः रुधिर का रंग श्वेत ही है। वह गंगा है। 'यमुना' ज्ञान तन्तुओं का वह नाडीजाल है जो शरीर के समस्त अंगों की गति को नियन्त्रित करता है। जिसके शिथिल होने पर या तो अर्धांग होता है या कम्पन होता है। उनको हम (वेसोमोटरी नर्व्स्) कह सकते हैं। 'सरस्वती' वह ज्ञान-तन्तु-जाल है जो ज्ञान कराते हैं। उसको हम 'सुषुम्ना-जाल' भी

कह सकते हैं। बहुत तीव्रता से ज्ञान करानेवाला सुषुम्ना का अंश 'शुतुद्री' है। शरीर में पर्व पर्व में उष्णता को बनाये रखने वाले नाडी जाल को जो बहुत सूक्ष्म रुधिर-वाहिनी और ज्ञान तन्तु जाल हैं वे 'परुष्णी' भाग हैं। उनकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं होने से उनको गौणरूप से संगत माना है। असिक्नी वे ग्लैन्ड या ग्रंथि हैं जिनमें डक्टस् या 'सेचक नाडियां' नहीं हैं। वे 'डक्टलैस-ग्लैन्डस्' शरीर में स्थान स्थान पर हैं। वे 'असिक्नी' हैं। 'मरुद्वृधा' प्राण वायु से बढ़ने वाला देह में प्राण शक्ति को विशेष रूप से देनेवाला 'नाडी जाल' है। जो माँस पेशियों पर विशेष अधिकार रखता है। उसे हम 'मेटाबोलिक फोर्स' स्थापन करनेवाला नाडीजाल कह सकते हैं, वह प्रायः सर्वत्र समान रूप से व्यापक है। 'वितस्ता' वह नाड़ी जाल है जो चर्म, मांसादि में सर्वत्र फैला है। 'आर्जिकीया' या 'विपाश्' वह नाडीजाल का भाग है जो विना किसी बन्धन या जाल का रूप लिए हुए सरल रूप से तन्तु रूप में है। सुषोमा वह नाडी जाल का अंश है जो जलांश या आर्द्रीभाव बनाये रखता है। जिसके अधीन स्थान स्थान पर जल छोड़ने वाले ग्लैन्ड्स (ग्रंथियाँ) काम करती हैं, आँखों की पलकों में ग्रंथियां आँख को सदा गीला रखती हैं, जीभ की ग्रंथियां मुख को गीला रखती हैं। यह 'सुषोमा' नाम ज्ञान-तंतु-जाल के अधीन सी रहती है।

यह विषय बहुत अधिक मनन चिन्तन की अपेक्षा करता है। वैज्ञानिक रीति से साईकोलोजी और नर्वस सिस्टम के अध्ययन से उक्त नाड़ियों का समालोचन करना चाहिए।

नदियों, नाड़ियों, वाणियों और मध्यमा वाग्-सिराओं और हिराओं का समस्त प्रकरण एक स्वयं बहुत व्यापक एवं गंभीर विषय है। जिसका विवेचन स्वल्प स्थान में होना संभव नहीं है। अतः इस विषय को हम यहां ही समाप्त करके इस निबन्ध को

समाप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त वेदान्तर्गत सभी ऐतिहासिक कहे जाने योग्य स्थलों की विवेचना होनी आवश्यक है ❀। इस निबंध में तो केवल वसिष्ठ ऋषि के दृष्ट सूक्तों में आये ऐतिहासिक निर्देश कहे जाने वाले स्थलों में से कुछ एक अंशों का विवेचन किया गया है। इसी प्रकार अन्य ऋषियों के दृष्ट सूक्तों का भी विवेचन करना आवश्यक है। जो कभी कालान्तर में सुविधानुसार पर्याप्त साधन-समाग्री एवं ग्रंथ-सम्पद् सहायक रूप से प्राप्त होने के उपरांत करने का विचार है। इस प्रकरण को अभी हम यहां ही समाप्त करते हैं। इति शम्। इति शुभम्॥

अष्टोत्तरद्विसाहस्त्रे वैक्रमेऽब्देऽसितं मृगे (मार्गशीर्षे)।
द्वादश्यां सोमके पूर्तिम् ऐतिह्यालोचनं गतम्॥

❀ इस सम्बन्ध में डा० बी० जी० रेले ने 'वैदिक गाड्स ऐज़ फिगर्स ऑफ़ बायोलोजी', नामक पुस्तक में वेद के समस्त देवताओं का शरीर विज्ञान की दृष्टि से विवेचन किया है। मूलग्रंथ हमारे देखने में नहीं आया है। बहुत यत्न करने पर भी वह अलभ्य होने से पुस्तकप्रकाशक से हमें पुस्तक प्राप्त न हो सकी। इस कारण उक्त डाक्टर महोदय के विचारों को हम इस निबन्ध में स्थान नहीं दे सके हैं इसका हमें खेद है।

परिशिष्ट १

पत्र-व्यवहार

वेद अनुशीलन का कार्य कितना शिथिल है इसका अनुमान इस बात से पता चलेगा कि श्रीकश्यपजी के लिखने पर भी उनको विद्वान् गण से समाधान को लिखने के लिए टालने का ही उत्तर मिला है। इसके अनेक कारण बाधारूप में हैं। वे बाधाएं जब तक दूर नहीं की जातीं तब तक वेदानुशीलन और वेदानुसंधान का कार्य निर्बाध रूप से चल नहीं सकता। प्रथम तो वेद के अनुशीलन कार्य में विद्वानों की आजीविका नहीं है, न अर्थागम है, तब केवल पुस्तक लिख भी लें तो उसको कोई प्रकाशित करने को तैयार नहीं होता। तब वेदानुसंधान आगे बढ़े तो कैसे बढ़े? यह एक खेद का विषय है। किसी भी वेदानुशीलक विद्वान् के पास पर्याप्त ग्रन्थ सम्पदा नहीं होने से वह अनुसंधान नहीं कर सकता। केवल यह कह देने से कि तुम तो बड़े पुस्तकालय वाले नगर में जाकर कोई आजीविका करलो तो तुम्हें ग्रन्थ प्राप्त हो जावेंगे, यह कथन इसी प्रकार का है कि रोगी को कहा जाय कि तुम्हारे रोगों का इलाज तो हिमालय की जड़ी बूटियों से सम्भव है, तुम तो हिमालय पर जाकर रहो। बिना पथ्य भोजन, वसन, गृहादि के केवल हिमालय में बैठने से रोग का उपचार संभव नहीं है। इसी प्रकार बिना उचित साधन सामग्री के वैदिक अनुसंधान कार्य नहीं हो सकता। अस्तु, मुझे इस बात से सन्तोष है कि दीवान श्री रामनाथजी कश्यप को इस बात का ठीक अनुभव हुआ और आप जिस जिज्ञासा से वैदिक धर्म के अंक पढ़ते थे उसी धारणा से

अपने हृदय का समाधान प्राप्त करने के लिए आपने वैदिक धर्म के सम्पादक एवं वसिष्ठ ऋषि के दर्शन के लेखक महामहोपाध्याय श्री पं० दा० सातवलेकर जी और गुरुकुल विश्वविद्यालय के आचार्य श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवदचस्पति से पत्र व्यवहार प्रारम्भ किया। उनके जो उत्तर व समाधान आये उनको इस परिशिष्ट में देना उचित समझते हैं, क्योंकि ऐसे अन्य अनेक भी महानुभाव हो सकते हैं उनके लिए ये पत्र पर्याप्त पथ प्रदर्शक होंगे।

प्रथम पत्र

२२ मॉड रोड, देहली छावनी
११। १२। ५०

दीवान श्री रामनाथजी कश्यप का प्रथम पत्र

श्री पंडित जी नमस्ते,

कार्ड मिला था। भाई जी बीमार ही पड़े हैं..........गुरदे का रोग है।

(२) स्वामी मेधानन्द..........नहीं मांगी जा सकती।

(३) श्री पंडित सातवलेकर जी का कार्ड देखें। मैंने लिखा था कि जब आपका किया भाष्य आपको ही नहीं समझ आया तो ऐसा भाष्य करना ही क्यों था। फिर ऐसा भाष्य हो सकता था जैसा श्री स्वामी जी ने तथा पं० जयदेव शर्मा जी ने किया। उसका उत्तर यह कार्ड है। अब तो आप व्याकरण के अनुसार कुछ लिख सकते हैं। संक्षेप में लिखें, पर अवश्य लिखें। यदि उनके भाष्य में कुछ सार है तो मुझे अवश्य बतावें। योग्य सेवा लिखावें।

चरण सेवक
रामनाथ कश्यप

द्वितीय पत्र

श्री पं० सातवलेकर जी का उत्तर पत्र जिसका पूर्व पत्र में निर्देश है

स्वाध्याय मंडल, आनन्दाश्रम,
किल्ला पारडी (जि० सूरत)
९।१२।५०

टू श्री दीवान रामनाथ जी कश्यप
२२ मॉड रोड, देहली छावनी

नमस्ते !

आपका पत्र मिला, धन्यवाद ! आप सब दर्शन होने तक ठहर सकते हैं तो ठहर जाइए। जो व्याकरणानुकूल अर्थ करना जानता है उससे बोलना सुगम है। पर जो वैसा नहीं करना चाहते उनसे बोलना असंभव है। भविष्य काल ही सत्यासत्य का निर्णय कर सकता है। क्या ईसा को फांसी पर चढ़ाया नहीं था ? वही हालत यहां होगी। पर अन्त में जय सत्य की ही होगी।

भवदीय
(ह०) श्री० दा० सातवलेकर

(यह पत्र श्री पं० सातवलेकर जी ने कश्यपजी के पत्र के उत्तर में दिया है। इसके पश्चात् निराश होकर श्री कश्यप जी ने मुझे पत्र लिखा, वह इस प्रकार है।)

तृतीय पत्र

श्री रामनाथ कश्यपजी का पत्र श्री पंडित जयदेव जी शर्मा चतुर्वेद भाष्यकार अजमेर के नाम

अवहार
धर्मशाला (जि० कांगडा) पंजाब
तारीख १४ । १० । ५०

पूज्य पाद श्री पंडितजी नमस्ते,

मेरे पिछले पत्र का उत्तर अभी नहीं आया । उसमें भी शास्त्र का हीं झगड़ा था । यह पत्र भी वही झगड़ा लिए हुए आपको कष्ट देने वाला है ।

वैदिक धर्म अंक आसौज विषय ऋग्वेद का भाष्य वसिष्ठ ऋषि का दर्शन (अनुवाक २ । सूक्त १८ । मन्त्र २२) के अर्थ में श्री सातवलेकर जी ने वेद भगवान् को ऐतिहासिक पुस्तक बना दिया । वेद मन्त्रगत वसिष्ठ को विशेष व्यक्ति ठहराया है । दो रथों के साथ उसे दो कन्याएं मिली बतलाई हैं । संस्कृत के विद्वान् वेदों के साथ क्रीड़ा ही करते रहे हैं । भाष्य के अन्त में लिखा है—ऐसे 'उच्च पदवी के ऋषि को कन्याएं क्यों दी गई । इसकी खोज मननपूर्वक होनी चाहिए । आपके अर्थ हमारे सिद्धान्तों के अनुसार हैं । और मन को भाता है । उन (श्री पं० सातवलेकरजी) के पास भी कोई युक्ति होगी जिससे ऐसा भाष्य करने का साहस हुआ । इस विषय पर बातचीत देहली में करेंगे । पर यदि उत्तर दे सकें तो बतावें कि उनके भाष्य की अशुद्धि निकल सकती है । मन्त्र २१ का अर्थ भी ऐतिहासिक शकल लिए हुए है । मैं २९—१०—५० की प्रातः को देहली पहुँचूंगा । इसका उत्तर यहां आ सकता है । पर आपको अवकाश हो तो । योग्य सेवा लिखावें ।

चरण सेवक
रामनाथ कश्यप

चतुर्थ पत्र

ऊपर उद्धृत पत्र के साथ ही एक पत्र दीवान साहब ने मन्त्री आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब को लिखा। जिसका उत्तर श्री आचार्य गुरुकुल कांगडी ने इस प्रकार दिया—

श्री प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति आचार्य गुरुकुल कांगडी का उत्तर

संख्या ११९२ तिथि २९। ८। २००७ वि०

सेवा में श्री दीवान रामनाथ कश्यप
डिविजनल फ़ोरेस्ट आफ़िसर रिटायॅड,
अवहार, धर्मशाला, जि० कांगड़ा.

श्रीमान् जी नमस्ते,

श्री मन्त्री जी आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा आपका तिथि १५। १०। ५० का मिला। उत्तर में निवेदन है कि श्री पंडित सातवलेकर जी अनेक बार यह घोषणा कर चुके हैं कि वह आर्य समाजी नहीं है। अतः वे किन्हीं मन्त्रों का वैसा अर्थ करें जो श्री दयानन्दजी की शैली के अनुसार हो यह किस प्रकार आशा की जा सकती है। अनेक सनातनी विद्वान् स्वामी जी से भिन्न प्रकार के अर्थ करते हैं और पहले भी सायण महीधर आदि वैसे अर्थ करते रहे हैं।

२. ऋषि दयानन्द जी की शैली से भिन्न जितने भी अर्थ या लेख निकलते हैं उन सब का उत्तर तैयार कर छपवाने का प्रबन्ध करना आर्थिक आदि कठिनाइयों के कारण इस समय संभव नहीं है।

भवदीय
(ह०) प्रियव्रत आचार्य
गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी।

पत्र संख्या ११८७१ तिथि २९ । ८ । २००७

प्रतिलिपि श्री मन्त्री जी आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की सेवा में उनके पत्र संख्या ३६७८ तिथि १२ । ८ । २००७ के सिलसिले में सूचनार्थ ।

भवदीय
(ह०) प्रियव्रत
आचार्य

पंचम पत्र

(इधर दीवान साहब ने एक पत्र जैसे गुरुकुल कांगडी व आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब को लिखा था, एक पत्र चतुर्वेद भाष्यकार श्री पंडित जयदेव जी शर्मा विद्यालंकार मीमांसातीर्थ को पुनः लिखा । जिसके उत्तर में उन्होंने निम्नलिखित पत्र दिया ।)

चतुर्वेद भाष्यकार श्री विद्यालंकार जी के पत्र की प्रतिलिपि

ओम् स्वस्ति । वनस्थली विद्यापीठ, जयपुर राजस्थान
१७ । १२ । ५०

प्रिय महोदय सप्रेम नमस्ते,

आपका कृपा पत्र एवं 'ए चैलेंज टु डार्विन्स थ्योरी टु एवोल्यूशन मिला । इस पुस्तक के अनेक स्थल पढ़े । जिस जोरदार भाषा में लिखना चाहिए था वैसी जोदार बनी नहीं । तो भी एक वस्तु अच्छी है ।

मेधा.....................चाहता हूं । आपके.....................हो रहा था ।

श्री सातवलेकर जी का कार्य मैंने देखा, मुझे उसमें कोई तथ्य नहीं दीखा । श्री पंडित जी ने व्याकरण की बात लिखी है । वह

बहुत अच्छी बात लिखी है। इसी से उनका ऐतिहासिक पक्ष खंडित होता है।

लोक भाषा में लुङ्, लङ्, लिट् लकारों से भूतकालवाचक क्रिया जानी जाती है; । परन्तु वेद में ये लकार भूतकालवाचक नहीं हैं। वेद में लुङ्, लङ्, लिट् तीनों का सामान्य क्रिया मात्र बतलाने के लिए प्रयोग होता है।

"छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ।" पाणिनि सूत्र अ० ३। पा० ४। सूत्र ॥ जिसका अर्थ काशिका वृत्ति में किया है—

'छन्दसि विषये धातुसम्बन्धे सर्वकालेषु लुङ् लङ् लिटः प्रत्ययाः भवन्ति। अन्यतरस्याम् इति वर्तते । तेन अन्येऽपि लकाराः यथायथं भवन्ति ।

अर्थात् वेद में धातु मात्र के अर्थ में सब कालों में लुङ्, लङ्, लिट् प्रत्यय होते हैं। पूर्व सूत्र से विकल्प की अनुवृत्ति आने से अन्य लकार भी धात्वर्थ बतलाने के लिए होते हैं। जैसे लुङ्—अहं तेभ्योऽकरम् नमः। लङ्—अग्निमद्यहोतारमवृणीतायं यजमानः। लिट्—अद्या ममार।

इन तीनों स्थानों पर लकारों का भूतकालिक अर्थ नहीं है। मैंने यह बात व्याकरण के ग्रन्थ से लिखी है। श्री पंडितजी इसका समाधान देंगे।

क्योंकि वेद नित्य हैं। उसकी दृष्टि में सब काल वर्तमान के समान हैं। इसलिए वेद में भूतकाल का प्रश्न नहीं उठता। इसी आधार पर वेद में भूतकाल बतलाने वाले समस्त लकार सामान्य क्रिया मात्र बतलाते हैं। इसी प्रकार यौगिक शब्द होने से वेद के शब्द रूढिप्राय या वैयक्तिक नाम नहीं है। लोग जब वेद के दो प्रमुख अंग व्याकरण और निरुक्त को छोड़ देते हैं तो वे ऐतिहासिक बातें गढ़ने लगते हैं और मनमाना बैबीलोनिया का इतिहास

और फारस आदि का भूगोल वेद में निकाला करते हैं। वस्तुतः वेद अपने अंगों पर स्थित है। उसके अंग भंग होने से वेद अवेद अर्थात् इतिहास बन जाता है। मनुष्य के सिर हाथ काट दें तो वह मनुष्य का धड़ 'कबन्ध' बन जाता है। तब वह पहचानने में भी नहीं आ सकता कि वह कटा मूंड कौन है ?

अधिक विवाद में न जाकर अब आचार्य सायरण के भाष्य से कुछ अंश भी बतलाता हूं।

१. सामवेद में........'देवा:' का अर्थ बहुत स्थानों पर 'ऋत्विज:' किया है।

२. सामवेद (मन्त्र १०९)— तं गूर्धया० इस मन्त्र में 'दधन्विरे', 'ऊहिषे' ये दोनों क्रियापद लिट् लकार के हैं। सायरण ने इसका अर्थ भूतकाल का नहीं किया। दधन्विरे का अर्थ किया है— 'धन्वन्ति गच्छन्ति' जाते हैं, 'उहिषे' का अर्थ किया है 'अभि-प्रापय' पहुँचाओ। इस प्रकार पंडितजी का भूतकालिक क्रिया का आग्रह नष्ट हो जाता है। और उनके भाष्य में ऐतिहासिक दृष्टि का सारा अर्थ ढह जाता है यही हमारा उनसे मतभेद है। सत्य निर्णय अन्ततः व्याकरण से करना है। यदि कभी व्याकरण मान लिया और कभी न माना तो इस प्रकार का 'आधा तीतर आधा बटेर' यह बात चलने वाली नहीं है। इसी लिए सायरण ने अनेक स्थलों पर ठोकरें खाई हैं। सायरण पंडित था, व्याकरण का अपूर्व ज्ञाता था। परन्तु वेदार्थ को इतिहास से पृथक् करके अर्थ करने में या तो उसकी बुद्धि की क्षमता नहीं थी या वह रूढ़ि का दास था। यही रूढ़िदासता पंडितजी को नहीं छोड़ रही है, अस्तु। आप मेरा अभिप्राय तो समझ गये होंगे। भाई साहब का हाल लिखिए।

भवदीय—
जयदेव शर्मा

षष्ठ पत्र

ऊपर उद्धृत चतुर्थ पत्र के उत्तर में श्री दीवान साहब का उत्तर निम्नलिखित है।

२२ मौड रोड, देहली छावनी
२०-१२-१९५०

पूज्यपाद श्री पंडितजी, नमस्ते!

आपका कृपा पत्र कल शाम मिला था, और उसी समय उत्तर लिखने बैठा था, समाप्त आज प्रातः किया है।

ऋग्वेद भाष्य के बारे में आपने तो कमाल कर दिया है। व्याकरण की विनाह (आधार) पर पं० श्री सातवलेकरजी की बात का पूरा उत्तर लिख दिया है। मेरा आशय आपको इतना कष्ट देने का कदापि न था। मैं दुःखी हूं कि आपको कष्ट हुआ। मैं तो इतना ही चाहता था कि क्या व्याकरण (के आधार) पर श्री पं० (सातवलेकरजी) का अर्थ अशुद्ध ठहराया जा सकता है। यदि आप 'हाँ' लिख देते तो मेरा मतलब पूरा था। मैं आपका कोटि २ धन्यवाद करता हूँ। यदि मन्त्रों का अर्थ कुल सबूतों (प्रमाणों) सहित लिखें जो श्री स्वामीजी महाराज की शैली के विरुद्ध है तो ट्रेक्ट की शक्ल में छपवादें मेरे व्यय पर। और आर्य समाजों को भेजें। वधुओं को दिए जाने वाले मन्त्र का अर्थ तो स्वामीजी के भाष्य में है, उसमें केवल व्याकरण की पुष्टि देनी है। इस प्रकार वसिष्ठ ऋषि के मन्त्र २९३, २९४, २९५ में गड़बड़ है। यह भाष्य वैदिक धर्म अंक कार्तिक २००७ में है।

"स्वामी मेधानन्द०..................लुम्बेगो था।

"गुरुकुल आचार्यजी लिखते हैं कि धन अभाव के कारण अवैदिक भाष्यों का उत्तर नहीं दिया जा सकता। मैंने उनको भी लिखा है कि मेरे व्यय पर ट्रैक्ट छपवा दें।

"चैलेंज..............प्रीफेस में।

चरणसेवक
रामनाथ कश्यप

सप्तम पत्र

श्री आचार्य गुरुकुल विश्व विद्यालय कांगड़ी को उनके पूर्व उद्धत पत्र २९-२-२००७ के उत्तर में श्री कश्यपजी का उत्तर।

२२ मौड रोड देहली कैंट
२०-१२-५०

श्री आचार्यजी नमस्ते!

श्री पं० सातवलेकरजी के वेद भाष्य के विषय में आपका पत्र संख्या ११८९२ तिथि २९-८-२००७ मिला। जिसे पढ़कर दुःख हुआ। धनाभाव के कारण आप चुप हैं। कृपया वसिष्ठ ऋषि के दर्शन के भाष्य में जहां जहां श्री पंडित सातवलेकरजी ने श्री स्वामी (दयानन्दजी) की शैली से विरुद्ध भाष्य किया है उसका उत्तर तैयार करके छपवादें १००० प्रति। उसका व्यय मैं दूँगा। यह ट्रैक्ट आर्यसमाजों में बांटा जायगा। व्याकरण की स्थिति पर अपने भाष्य को ठीक सिद्ध करें। पंडित (श्री सातवलेकरजी) का भाष्य उनके मासिक पत्र वैदिक धर्म में देखें। अङ्क असौज तथा कार्तिक में खंडन करने योग्य भाष्य है। श्री स्वामी (दयानन्दजी) का भी भाष्य है। पं० जयदेवजी शर्मा का भी भाष्य है। उनको व्याकरण तथा निरुक्त के आधार पर सिद्ध करना है इस कार्य को शीघ्र करें। आप उच्च कोटि के विद्वान् हैं। और वैसे ही दूसरे विद्वान् आपके दायें बायें हैं।

श्री पं० सातवलेकरजी ने किसी से धन नहीं मांगा है। पर वह कार्य साहित्य बनाने का किया है जो आर्यसमाज तथा प्रतिनिधि सभाओं से तीन कल्पों में न होगा। यह सब संस्थाएं विद्यालयों को चलाने में लगी हैं। वेद प्रचार के कार्य के अयोग्य हैं। इसलिए पं० सातवलेकरजी समाज से बाहर हुए। मैं ५० साल से मैम्बर रहकर बाहर हुआ। सभा (प्रतिनिधि सभा पंजाब) को श्री पं० बुद्धदेवजी ने काबू किया था, पर युक्ति से काम न लेने के कारण सब ने उनको छोड़ दिया। यदि गुरुकुल के स्नातकों ने उनका साथ दिया होता तो वेद प्रचार तथा समाज का दूसरा काम आप सज्जनों के कंधों पर होता।

श्री स्वामी श्रद्धानन्दजी जीवित होते तो न सातवलेकरजी समाज से बाहर जाते और न वेद का भाष्य दयानन्द के सिद्धान्तों के विरुद्ध होता। यदि आप लोग सोए रहे तो पंडित मंडली भूतकाल की न्यांई लेख लिख लिखकर समाज और स्वामी (दयानन्द) के कार्य को बड़े भारी ढेर के नीचे दबा देगी। पंडितों ने बड़े बड़े भारी उपद्रव किये हैं।

इस विषय में श्री पं० जयदेव शर्मा ने जो पत्र मुझे लिखा है वह भेजता हूँ, देखें। और सब को संगठित करके सातवलेकरजी के लेख का उत्तर तैयार करें, छपवाने का मैं भार लूंगा। सातवलेकरजी का यह कहना कि मैं आर्यसमाजी नहीं, कुछ मतलब नहीं रखता। मैं भी यही कहता हूँ, पर वैदिक सिद्धान्तों को सर्वथा मानता हूँ। वेद को कलंकित न होने दीजिए। नहीं तो गुरुकुल एक साधारण पाठशाला रह जायेगी। आपकी सभा बाबुओं के हाथ में है।

भवदीय—
रामनाथ कश्यप

परिशिष्ट २

योगी श्री ओमानन्दजी (लेखक पातंजल योग प्रदीप) ने इन नाडियों के संबंध में योग प्रदीप में लिखा है—

सूक्ष्म प्राण का वर्णन—मनुष्य शरीर में प्राणवाहिनी नाडियां असंख्य हैं। इनमें १५ मुख्य हैं। (१) सुषुम्ना, (२) इडा, (३) पिंगला, (४) गांधारी, (५) हस्तिजिह्वा, इनमें से गांधारी और 'हस्तिजिह्वा' ये दोनों क्रमेण वाम और दक्षिण नेत्रों से वाम और दक्षिण पैर के अंगूठे पर्यन्त चली गई हैं। (६) 'पूषा' (७) 'यशस्विनी' ये दोनों दक्षिण और वाम कर्ण में श्रवण साधनार्थ हैं। (८) 'शूरा' गन्धग्रहणार्थ (नासिका देश में) भ्रूमध्य पर्यन्त जाती है। (९) 'कुहू' मुख से जाती है। (१०) सरस्वती, जिह्वा के अग्रभाग पर्यन्त जाकर इसके ज्ञान और वाक्यों को प्रकट करती है। (११) वारुणी, (१२) अलम्बुषा, (१३) विश्वोदरी, (१४) शंखिनी, जिनका योग से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन तीनों में 'सुषुम्ना' सर्वश्रेष्ठ है। यह नाड़ी सूक्ष्म नली के सदृश है जो गुदा के निकट से मेरु दंड के भीतर होती हुई मस्तिष्क के ऊपर तक चली गई है। इसी स्थान (गुदा स्थान से निकट) से इसके वाम भाग से इडा और दक्षिण भाग से पिंगला नासिका के मूलपर्यन्त तक चली गई है।

वहां भ्रूमध्य में ये तीनों नाडियां परस्पर मिल जाती हैं। सुषुम्ना को सरस्वती इडा को गंगा और पिंगला को यमुना भी कहते हैं। गुदा के समीप जहाँ से ये तीनों नाडियां पृथक् होती हैं, उसको 'मुक्त त्रिवेणी' और भ्रूमध्य में जहां ये तीनों पुनः मिल गई हैं, उसको 'युक्त त्रिवेणी' कहते हैं।

साधारणतया प्राणशक्ति निरन्तर इडा और पिंगला नाडियों से

श्वास और प्रश्वास रूप से प्रवाहित होती रहती हैं, इडा को 'चन्द्र नाडी' और पिंगला को 'सूर्य नाडी' कहते हैं। इड तमःप्रधान और पिंगला रजः प्रधान है। (पृ० १०२—३)

इडा भागीरथी गंगा पिंगला यमुना नदी।
तयोर्मध्यगता नाडी सुषुम्णाख्या सरस्वती॥
त्रिवेणी संगमो यत्र तीर्थराजः स उच्यते।
तत्र स्नानं प्रकुर्वीत सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
तदेव हृदयं नाम सर्वशास्त्रादि सम्मतम्।
अन्यथा हृदि किं चास्ति प्रोक्तं यत् स्थूलबुद्धिभिः॥

इडा को 'गंगा' पिंगला को 'यमुना' और इन दोनों के मध्य में जाने वाली नाडी सुषुम्ना को 'सरस्वती' कह सकते हैं। इस त्रिवेणी का जहां संगम है उसे 'तीर्थराज' कहते हैं। इसमें स्नान करके सारे पापों से मुक्त होजाते हैं (इसको ही 'आज्ञा चक्र' या 'युक्त त्रिवेणी' कहते हैं) यह आज्ञाचक्र ही सर्वशास्त्र सम्मत हृदय है। स्थूल बुद्धि वाले अन्य स्थूल स्थान को हृदय कहते हैं। (पृ० ११४)।

सुषुम्ना के अन्तर्गत सूक्ष्म नाडियां —

सुषुम्ना के भीतर एक 'वज्र नाडी' है। वज्र के अन्दर 'चित्रिणी' है। चित्रिणी के मध्य में 'ब्रह्म नाडी' है। ये सब नाडियां मकड़ी के जाले जैसी अति सूक्ष्म हैं। जिनका ज्ञान केवल योगियों को ही होता है। ये नाडियां सत्व प्रधान, प्रकाशमय और अद्भुत शक्तियों वाली हैं। यही सूक्ष्म शरीर तथा सूक्ष्म प्राण के स्थान हैं। इनमें बहुत से सूक्ष्म शक्तियों के केन्द्र हैं, जिनमें बहुत सी अन्य सूक्ष्म नाडियां मिलती हैं। इन शक्तियों के केन्द्रों को 'पद्म' तथा 'कमल' कहते हैं। जिनमें केवल सात मुख्य हैं।

(१) मूलाधार, (२) स्वाधिष्ठान, (३) मणिपूरक, (४) अनाहत, (५) विशुद्ध (६) आज्ञा और (७) सहस्रार (पृष्ठ १०९)।

परिशिष्ट ३

चतुर्वेद भाष्यकार श्री पं० जयदेवजी शर्मा का 'इमं मे गंगे यमुने'० मन्त्र पर भाष्य

हे गंगे ! हे यमुने ! हे सरस्वति ! हे शुतुद्रि ! परुष्णि ! हे मरुद् वृधे ! (वितस्तया असिक्न्या सुषोमया) वितस्ता असिक्नी और सुसोमा के साथ विद्यमान हे आर्जिकीये ! तू (मे इमं स्तोमं आसचत आ शृणुहि) हमारे इस स्तुति योग्य वचन को प्राप्त करके श्रवण कर ।

लोक में गंगा, यमुना, सरस्वती, मरुद्वृधा, शुतुद्री, वितस्ता, असिक्नी, सुसोमा और आर्जिकीय ये सब नाम नदियों के प्रसिद्ध हैं । वेद में इन शब्दों का मुख्यार्थ नदियों के प्रति संगत न होने से ये शब्द नदी वाचक नहीं है ।

अध्यात्म में ये दश विशेष नाडियां हैं, उन नाडियों में व्याप्त आत्मशक्ति भी उसी नाम से पुकारी जाती है । जैसे—बृहदारण्यक में लिखा है वही आत्मा—शृण्वन् श्रोत्रं भवति, मनो मन्वानो, वाग् वदन् । इत्यादि । इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिए ।

> इडा च पिंगलाख्या च सुषुम्ना चास्थिजिह्वका ।
> अलम्बुषा तथा पूषा गांधारी शंखिनी कुहूः ॥
> देहमध्यगता एताः मुख्याः स्युर्दशनाडयः ।
> (इति संगीत विषये केरललिप्यां हस्तलिखित पुस्तके)

गंगा, इडा नाडी है, वह आत्मा को ज्ञान प्राप्त कराती है, यमुना पिंगला है । जो देह के सब अंगों को सुव्यवस्थित करती और संयम में रखती है । सरस्वती सुषुम्ना, उसमें प्रशस्त ज्ञान सुख का उद्भव होता है । परुष्णी (पर्ववती भास्वती, कुटिलगामिनी

निरु०) जो प्रति पर्व पीठ के मोहरों में से नीचे तक गई है, वह वर्ण में चमकीली और कुटिल मार्ग में गई है। असिक्नी (अशुक्ला, असिता। सितमिति वर्णनाम तत्प्रतिषेधः। नि०) जो शुक्ल अर्थात् चमकीली नहीं है, उसमें जो रस रहता है उसको कोई रंग नहीं है। मरुद्वृधा (सर्वानद्यो मरुतः एना वर्धयन्ति । निरु०) सब नदियां और मरुद् प्राण गण, इसको बढ़ाते हैं, नाडी का वह अंश जहाँ अन्य सब मिलकर एक हो जाते हैं। अथवा मरुद् देह के प्राण उसको और वह प्राणों को पुष्ट करती हैं। शुतुद्री (शुद्राविणी क्षिप्र-द्राविणी, आशुतुन्ना इव द्रवति। निरु०) जो वेग से गति करती, भरी भरी चलती है। वितस्ता (बिदग्धा विवृद्धा, महाकूला। नि०) देह में वितस्ता वह नाड़ी है जो दाह अर्थात् ताप को धारण करती है, वह बहुत व्यापक और त्वचा भर में व्याप्त है। आर्जिकीया—(ऋजूक अथवा ऋजुगामिनी वा। नि०) ऋजु से उत्पन्न वा ऋजु जाने वाली, मस्तक में विशेष स्थान 'ऋजूक' है। उससे निकली नाडी आर्जिकीया है। विपाट् (बिपाटनाद्वा, विपाशनाद् वा, पाशा अस्यां व्यपाशयन्त बसिष्ठस्य मुमूर्षंस्तस्माद् बिपाड् उच्यते नि०)

विपाट् यह नाडी है जहाँ विपाटन होता है, जिसके फटने पर प्राण देह को त्याग देता है वह आत्मा देह से पृथक् हो जाता है। उसका प्राचीन नाम उरुंजिरा है। सुषोमा उत्तम प्रेरणावाली वा उत्तम वीर्य वाली, वीर्यवहा नाडी वा जो अंगों में शक्ति प्रदान करे, सिन्धु यदेनाम् अभिप्रसुवन्ति नद्यः। सिन्धुः स्यन्दनात्। नि०) सब नदियां जैसे सिन्धु में आती हैं, ऐसे समस्त प्राण जिसमें आकर लय हो जाते हैं वह आत्मा ही 'सिन्धु' है। वह एक शरीर से दूसरे शरीर में, एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाते हुए महानद के समान जाता है, अतः 'सिन्धु' कहाता है। देह ही देश के तुल्य 'क्षेत्र' कहाता है 'सा मे आत्मा भूत्' इति सोमः। सोम मेरा अपना ही आत्मा है,

ऐसा ब्राह्मण प्रोक्त निर्वचन है । इससे सुषोमा स्वयं आत्मा रूप नदी है।

आत्मा का नदी रूप से वर्णन महाभारत में है।

आत्मा नदी संयम पुण्यतीर्था सत्योदका शीलतटा दयोर्मि: ।

इत्यादि भिन्न भिन्न स्थिति में यहां इन नामों से आत्मा को ही सम्बोधन किया गया है।

(ऋग्वेद भाषा भाष्य खंड ७ । पृ० १८१—१८३)

ऋग्वेद में इसी मंडल के इसी सूक्त के इसी मंत्र के अगले मंत्र में एक और 'नाडी संस्था' का और वर्णन है जिसमें तुष्टामा, सुसत्तू, रसा, श्वैत्या, कुभा, गोमती, क्रुमु और मेहत्नू ये नाडियां देह में भिन्न भिन्न कार्य करती हैं। जैसे 'तृष्टामा' आमाशयगत भोजन का पाक करती हैं। 'सुसर्तू' देह में अन्न रस के अंश यथा-स्थान पहुँचाती है। रसा देह में 'रस' देती है। 'श्वेत्या' दुग्धवत् श्वेत रस पक्काशय से छाती में रक्त से मिलाती है। 'कुभा' त्वचा का निमाण करती है। 'गोमती' इन्द्रियों का संचालन करती है। 'क्रुमु' देह के चलने की व्यवस्था करती है। 'मेहत्नू' नाडी मूत्र बनाकर निकालती है।

———

परिशिष्ट ४

NERVOUS SYSTEM (ज्ञानतन्तु-संस्थान)

मनुष्य की ज्ञान तन्तु व्यवस्था पशुओं की अपेक्षा अधिक जटिल है। इसके कार्य भी बहुत प्रकार के हैं। यह अन्य अंगों को नियन्त्रित करता है और व्यक्ति को बाह्य जगत् के साथ जोड़ने वाले संबंधों को व्यवस्थित करता है। ज्ञानतंतु संस्थान के अंगों में (Brain) मस्तिष्क, (spinal chord) मेरु दण्ड, और (Nerves) ज्ञान तंतु सभी आजाते हैं।

१. मस्तिष्क (Brain)—'मस्तिष्क' समस्त ज्ञानतन्तु संस्थान का मुख्य बुद्धि केन्द्र है। वह कपाल के अस्थिमय पेटी में रखा है। वह बाहर की चोटों से बचा रहता है। आँखों के ऊपर का मस्तिष्क भाग सबसे अधिक चोट खाने वाला, बहुत कोमल एवं सुकुमार है। उसके ऊपर की हड्डी भी बहुत पतली होती है।

सारा मस्तिष्क तीन झिल्लियों (membranes) से आच्छादित रहता है। इनके नाम क्रमशः (१) ड्यूरा मेटर (Dura Matar) (२) आर्कनोइड (Archnoid) और (३) पिया मेटर (Pia Matar) हैं। इन तीनों को मेनिनिजसि (Meningis) कहते हैं। पिया मेटर सारे मस्तिष्क के ऊपर ढकी है। इसे रुधिर की नाडियां मस्तिष्क को रक्त पहुँचाती हैं। आर्कनोइड और पिया मेटर के बीच में एक बहुत पतली तह एक प्रकार के रस (द्रव) की है। इसको (सेरेब्रा स्पाइनल फ्लूयूइड) मस्तिष्क मेरु-दण्डीय द्रव कह सकते हैं। यह रस मस्तिष्क की दरारें और खाली स्थानों में भी रहता है। इन दरारों या खाली स्थानों को वेन्ट्रिकल्स (Venrticles) कहते हैं, वह द्रव स्वच्छ नीरंग द्रव है जो रक्त से

ही स्रवित होता है। इसका काम है, एक जलीय गद्दी बनादे जिससे मस्तिष्क के अति कोमल तन्तु ऊपर की अस्थि के सम्पर्क से होने वाली हांनियों और धक्कों से बचे रहें और झटके और धक्के या प्रहार की तीव्रता कम होजावे। यह द्रव मस्तिष्क से निकलने वाले मल को भी हटाता है और खोपड़ी का एक समान दबाव रखता है, रक्त की मात्रा बढ़ने और घटने से इसकी मात्रा भी बढ़ती घटती रहती है।

मस्तिष्क का भार—मस्तिष्क का औसत भार पुरुषों में लगभग ४० से ५० औंस तक होता है और स्त्रियों के मस्तिष्क का भार लगभग ५ औंस कम होता है। मस्तिष्क का भार प्रायः बुद्धि या विचार शक्ति की न्यूनाधिकता पर निर्भर है। इसलिए साधारण जनों की अपेक्षा बहुत बुद्धिमान् महापुरुषों का मस्तिष्क अधिक भारी होता है। बड़े भारी कुवीर (cuvier) के मस्तिष्क का भार ६४ औंस था। स्काटलैंड के डाक्टर अम्बर क्रेम्बी के मस्तिष्क का भार ६३ औंस था। रशियन उपन्यासकार तट्जनीफ के मस्तिष्क का भार ६५ औंस था, दूसरी तरफ मूर्ख नासमझ लोगों के मस्तिष्क सर्वसाधारण की अपेक्षा हलके होते हैं। कईयों के तो १६ औंस से भी कम होते हैं। तो भी मस्तिष्क के भार का ही बहुत अधिक महत्व नहीं है। क्योंकि मस्तिष्क घटक द्रव्य की राशि की अपेक्षा उसकी प्रकार (quality) विशेष महत्व की है।

इसलिए इसमें कोई सन्देह नहीं है, जिन जातियों का बहुत अधिक विकास हुआ है उनके मस्तिष्क अधिक भारी हैं। योरोप-वासियों के मस्तिष्क जङ्गलियों की अपेक्षा अधिक भारी हैं।

मस्तिष्क के मुख्य चार भाग हैं। सेरेब्रम, सेरेबलम, पौन्स वैरोलिआई और मेडुला आबलोंगेटा।

१. सेरेब्रम—सेरेब्रम, बड़े मस्तिष्क में मस्तक के कपाल का

ऊपरी सारा भाग ही है। यह एक गहरे कटाव से विभक्त है, यह कटाव सामने से पीछे तक दो बराबर के भागों में गया है। इससे कपाल या मस्तिष्क के दो भाग हो गये हैं। जो सेरेब्रम अर्ध गोलक कहाते हैं। वे ऊपर से दो जुदा मालूम होते हैं परन्तु नीचे से जुड़े हैं। सूत्रों की एक दूसरे को क्रास (cross) करनेवाली पट्टियां बाँध रही है। इससे दोनों ही परस्पर निकटतम सम्बद्ध रहते हैं। उन दोनों का सारा पृष्ठ नाना प्रकार की धारु या कोरों से आच्छादित है। जिनका चीर या नदिकाएं या कुल्याएं (Convolution & Fissures) कहते हैं। वे बिना किसी क्रम या व्यवस्था के ही व्यवस्थित सी प्रतीत होती हैं। इस प्रकार मस्तिष्क का पृष्ठ बहुत अधिक विस्तृत हो जाता है।

सेरेब्रम अर्ध गोले बुद्धि शक्तियों या ज्ञान शक्तियों और इच्छा-शक्तियों के प्रमुख स्थान हैं। चाहे ये शक्तियां मस्तिष्क के परिमाण और भार पर अधिक निर्भर हैं। जितनी अधिक जटिल ये चीरें और उनकी सम्पन्नता होगी बुद्धि और इच्छा शक्ति उतनी ही अधिक होगी।

सेरेब्रम मांस पेशियों में गति भी उत्पन्न करता है, वह बाह्य जगत् से सब ज्ञानों को संकलित करता है और उनका अभिप्राय भी समझता है।

२. सेरेबेलम—(लघु मस्तिष्क या उपमस्तिष्क) यह बड़े मस्तिष्क के पीछे की ओर स्थित रहता है। इसके ऊपर के आवरण बड़े मस्तिष्क की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और सुकुमार होते हैं। इसके भी दो भाग होते हैं। यह मांसपेशियों को वश में रखता है और व्यवस्थित करता है। ठीक समय पर उनका संचालन करता है। वह देह का सामंजस्य (Equilibrium) बनाये रखता है। इसमें दोष या रोग होने से मनुष्य लड़खड़ाता है और ठीक खड़ा नहीं रह पाता है।

३. पौन्स वैरोलिआई (सेतु बन्ध)—छोटे मस्तिष्क के दोनों भागों के बीच में ज्ञानतंतुओं का एक चौड़ा गुद्दा है, जिसको पौन्स वैरिलिआई कहते हैं, या उसको केवल साधारणतया पौन्स (Pons) या सेतु कहते हैं। जहां २ बहुत ज्ञान तन्तुओं (Nerve fibers) के मिलने के स्थान ग्रन्थियां हैं। यह सेतु सीधा लगातार नीचे मेडुला तक चला गया है।

४. मेडुला—(कन्द) मेडुला या कन्द (Medula or bulb) सेरेबेलम के नीचे होता है। यह सेरेबेलम को मेरुदण्ड (ग) वेणी से मिलाता है। मस्तिष्क के इस भाग में कुछ आवश्यक केन्द्र होते हैं जो जीवन की आवश्यक चेष्टाओं और क्रियाओं पर शासन करते हैं। वह प्राण अपान या श्वास प्रश्वास गतियों को प्रचालित एवं सुशासित करता है, हृदय की गति को चलाता है, और समस्त देह में रुधिर संचारित करता है। मस्तिष्क के इस भाग में थोड़ी सी भी बीमारी या त्रुटि हो जाने का परिणाम मृत्यु है। ग्रे मैटर ···(भूरा द्रव्य Gary matter) ब्रेन या मस्तिष्क का, मुख्य द्रव्य नर्वस टिस्यू = ज्ञान तन्तु हैं। इन ज्ञान तन्तु को बनानेवाले (सेल) कोष ग्रेमैटर भूरा द्रव्य 'या बभ्रु' (शोण) कहाता है। दो मुख्य राशियाँ (Masses) ग्रे मैटर का नाम आप्टिक थेलेमस (Optic Thalamus) है। इस ग्रे मैटर से जो पट्टियां देह को प्रेरणाएं ले जातीं या जो देह से ज्ञानों को ले आती हैं वे (White matter) श्वेत द्रव्य है। (वे ही शरीर के (श्वित्यंश्वासः कर्पर्दिनः 'वसिष्ठाः') हैं'।

बहुत परिश्रम के पश्चात् सेरेब्रम के ग्रे मैटर के नाना प्रकार के क्षेत्रों का मान चित्र बनाया जा सका है कि कौन सा भाग शरीर की किस क्रिया का नियामक है। उन क्षेत्रों को मोटर एरिया (क्रिया क्षेत्र) कहा जाता है। उदाहरण के तौर पर अब यह ज्ञान हो गया है कि

प्रत्येक हाथ और प्रत्येक पैर का नियमाक क्रिया क्षेत्र कहाँ है। यदि कोई अंग अपने कार्य करने में ढीला हो गया है या उसको अर्धांग हो गया है तो यह बात भी ज्ञात हो गई है कि मस्तिष्क में किस स्थान पर रोग या दोष बैठा है। मस्तिष्क में और स्थान भी अनेक ज्ञानों या अनुभूतियों (Sensations) के साथ सम्बन्ध रखते हैं। उनका भी पता लग चुका है। उदाहरणार्थ ग्रे मटर का वह भाग जो चक्षु की की दृष्टि से सम्बन्धित है वह मस्तिष्क के पिछले भाग में स्थित है। मस्तिष्क के उस भाग में आघात लगने से मनुष्य अंधा हो जाता है। 'रोलेन्डो का चीर' मोटर और अनुभूति क्षेत्रों को अलग करता है।

तो भी ऐसे बहुत अधिक भाग मस्तिष्क के अवशिष्ट हैं जिनके अभी उपयोग जाने नहीं गए हैं। उनको (Silent areas) 'अज्ञात क्षेत्र' कहा जाता है। संभवतः वे भाग बुद्धि, वैयक्तिक मानसिक हितों से सम्बन्ध रखते हैं। बहुत से अविदित क्षेत्र मस्तिष्क के सामने के भाग में है। यह प्रायः देखा गया है कि जब चोट लगती है या आधे के भाग में रोग हो जाता है, क्रियाशीलता की बुद्धि पर आघात पहुंचता है।

बारह जोड़ी ज्ञान तन्तु—मस्तिष्क से १२ जोड़ी ज्ञानतन्तु (Nerves) प्रसृत होते हैं।

(१) (Olfactory) गन्धवहा, जो गन्ध ग्रहण करता है।

(२) (Optic) रूपवहा या दृक चरी, यह दृष्टि की ज्ञान नाडी है।

(३) (Oculo Motors) बहुत सी ऐसे मांस पेशियों में व्याप्त है जो आंखों को हिलाती हैं।

(४) (Trochlear) नयनक्षिपा यह उन मांसपेशियों में व्याप्त है, जो नयन गोलकों को ऊपर नीचे घुमाती हैं।

(५) ट्रिजेमेनिल् (Trigeminal) ये तन्तु मुख और जबड़ों की मांस पेशियों में व्याप्त हैं। इस को 'मुखं गंगा' कह सकते हैं।

(६) एब्डयूसेन्ट (Abducent) उन मांस पेशियों में व्याप्त है जो नयनगोलक को बाहर की ओर घुमाती है। नयनवर्तिनी।

(७) (Facial) मुख की मांस पेशियों में व्याप्त है। मुख व्यापिनी।

(८) (Auditory) सुनने का कार्य करती है। 'श्रुतिचरा' या 'श्रवणा।'

(९) (Glosso Pharyngeal) ग्लासे फिरिनजीयल। 'रसस्वदा।' यह स्वाद लेने वाले ज्ञान तन्तु हैं। इसी से गले के भीतर के ज्ञान भी प्राप्त होते हैं।

(१०) (Vagus) वागस हृद्गा, यह हृदय फुफ्फुस पेट और अन्य अंगों में गई है।

(११) (spinal accessory) यह गर्दन के मांस पेशियों फैली है, इसको 'ग्रीवाचरी' कह सकते हैं।

(१२) (Hypo glossal) यह जीभ के मांस पेशियों में व्याप्त है। जिह्वा वर्तिनी।

खूब अच्छे प्रकार से काम करने के लिए मस्तिष्क में रक्त की अच्छी मात्रा विशेष रूप से प्राप्त होती है। जब मस्तिष्क कार्य कर रहा होता है अर्थात् जब हम विचारते हैं तब रक्त की मात्रा की वृद्धि हो जाती है और सोने के समय घट जाती है।

स्पाइनल कार्ड—(मेरु दण्डीय रश्मि दण्ड) मेरु दण्ड या मेरु दन्डान्तर्गत ज्ञान रश्मि दंड मस्तिष्क के नीचे के भाग से जुड़ा है, और उसके साथ ही बढ़ चली गया है। कपाल के आधार में एक छिद्र में से निकल कर जांघों तक बढ़ गया है। मेरु दंड (Spinal column) के हड्डियों से बनी एक कुल्या या कोश मय मार्ग में से सुरक्षित रूप से रहता है। यह एक प्रकार की चपटी सी बेलनाकार दंडी या रस्सी है। जो एक श्वेत पदार्थ से बनी है। इसकी मोटाई उतनी ही है जितनी मनुष्य की अंगुली मोटी होती है। इसको काट कर भी देखा जा सकता है, इसमें स्पष्ट श्वेत और भूरे (white and gray) वर्ण के दोनों द्रव्य देखे जा सकते हैं। श्वेत रंग का आवरण होता है और बीच में भूरे वर्ण का होता है। भूरे वर्ण का द्रव्य लगभग H इस आकार में व्यवस्थित रहता है। जो कुछ ग्रन्थि जाल (Hundles) या स्तम्भ के रूप में रहते हैं। उनको कोलम् (स्तम्भ) ही कहते हैं। इसका मुख्य उपयोग ज्ञान प्रेरणाओं या संदेशों को दोनों तरफ से अर्थात् मस्तिष्क से बाहर की ओर और बाहर से मस्तिष्क की ओर ले जाना और पहुँचाना होता है। इसके साथ ही इसका गौण कार्य यह भी है कि वह शरीर की सामान्य शक्ति क्रियाओं को भी मस्तिष्क के अधीन रह कर संभाला करती है।

इस रश्मिदन्ड के अनेक स्तम्भों के भिन्न भिन्न नाम हैं, जिनके भिन्न भिन्न कार्य भी हैं। वे विशेष रूप से दो कारणों से बहुत चित्ताकर्षक हैं। एक अनेक ज्ञान सम्बन्धी सन्देश भिन्न स्तम्भों में दौड़ा करते हैं। एक तो मस्तिष्क से मांस पेशियों की ओर जिनसे मांस पेशियां संकुचित होतीं और अंगों को हिलाती हैं। यह कॉर्ड के बाहर सन्मुखी भाग से होता है। जो चर्म वा त्वचा में से और मस्तिष्क के ऊपरी भागों में जाती है, वे कॉर्ड या रश्मि

दण्ड के पीछे भाग से जाती है। वे मस्तिष्क में अनेक प्रकार के अनुभूतियों को पहुंचाती हैं जैसे पीडाएं, ताप या स्पर्श ज्ञान। दूसरी मनोरंजक बात यह है कि भिन्न भिन्न स्तम्भों का रोग या विकार भिन्न भिन्न प्रकार के लक्षण प्रकट करता है। भिन्न भिन्न प्रकार के प्रभाव दिखाता है, जिसका वर्णन हम आगे करेंगे।

मेरु दंडीय रश्मि दंड में सारे में मेरु दंडीय ज्ञानतन्तु युगल-युगल रूप में संख्या में ३१ उत्पन्न होते हैं। और हरेक मोहरे में बने छोटे छोटे छिद्रों में से मेरु रश्मि दंड में से पृथक् होते हैं। प्रत्येक का नाम और संख्या उनके मोहरे के अनुसार है। इस प्रकार ८ जोडे सर्विकल नर्व्स के हैं। १२ जोडे डार्सल या थोरासिक हैं। पांच जोड़े लम्बर से त्रिकास्थि हैं, पांच जोड़े सेक्रल (Sacral) हैं। और एक जो (त्रिक) कावसीजियल है। इस प्रकार वे सब (८+१२+५+५+१=३१) मिलाकर ३१ हैं।

(NERVES) ज्ञान तन्तु—बहुत से सूक्ष्म सूत्रों की बनी रस्सियां हैं। वे टैलीग्राफ़ की तारों के समान संदेश सारे शरीर भर में ले जाते हैं। सूक्ष्म सूत्रों (Fibres) के बने जो ज्ञानतन्तु मस्तिष्क से देह के भिन्न भिन्न भागों को संदेश पहुंचाते हैं, वे मोटर नर्व्स कहाते हैं। उन्हें क्रिया सञ्चालक ज्ञानतन्तु कह सकते हैं। इसी प्रकार अन्य प्रकारों के सूत्रों के बने ज्ञान तन्तु जो सारे शरीर से मस्तिष्क की ओर ज्ञान संदेश ले जाते हैं, जैसे सुख, दुःख आदि, गर्मी सर्दी, ताप, स्पर्श ज्ञान आदि उनको अनुभूति सूत्र या ज्ञानानुभूतिक तन्तु कहते हैं। बहुत से ज्ञान तन्तुओं में ज्ञानवाही और क्रियावाही दोनों प्रकार के सूत्र होते हैं।

ज्ञान तन्तुओं की प्रेरणाओं का सच्चा स्वरूप अभी तक भी समझा नहीं जा सका है, तो भी इनका बहुत निकटतम सम्बन्ध

विद्युत् से है। इनके साथ ज्ञानतन्तुओं में विशेष नियत वैद्युतिक परिवर्तन भी होते रहते हैं। शक्ति, वह चाहे कुछ भी तत्व है, वह ज्ञान तन्तु के साथ प्रति सेकिन्ड १०० फीट के वेग से दौड़ा करती है।

ज्ञानतन्तु संस्थान (नर्वस सिस्टम) के कार्य

ज्ञानतन्तु संस्थान (नर्वस सिस्टम) का काम इसको एक विशाल विद्युत् तार विभाग सा जान कर भली भांति समझा जा सकता है। ज्ञान संदेशों को हम विद्युत् द्वारा दिये संदेश ही मान सकते हैं। मस्तिष्क उसका बड़ा भारी आफ़िस (केन्द्रीय कार्यालय) है। वही मैनेजिंग डाइरेक्टर है, वही बिजली की मुख्यधारा उत्पन्न करने का केन्द्र—पावर हाउस है। देह में स्थान स्थान पर और भी कई छोटे छोटे केन्द्र-कार्यालय हैं।

कल्पना कीजिए कि मैनेजिंग डाइरेक्टर अपने अधीन किसी स्थानीय उस कार्यालय को कुछ काम कर देने की आज्ञा भेजता है। मान लो दृष्टान्त के तौर पर हाथ ही हिलाता है। वह इक इच्छा-पूर्वक कार्य (Voluntary action) का एक चित्र है। जिसमें बुद्धि तत्व (Intellect) एक ज्ञान तन्तवीय प्रेरणा (Nervous impulse) उत्पन्न करती है। वह प्रेरणा मोटर फ़ाइबरसे (गतिवाहक सूत्रों) द्वारा किसी देह के भाग की ओर जाती है, और उनसे कोई क्रिया होने लगती है, इसी प्रकार कल्पना कीजिए कि किसी स्थानीय कार्यालय से जो टांग की पिंडली में है, सिर की ओर मस्तिष्क में एक संदेश भेजा, और एक झटके से टांग का उछलने का अनुभव हुआ। इस सन्देश को टांग के ज्ञान वाहक तन्तु पैर या टांग से मेरु दंडीय रज्जु में भेजा और वहां से ज्ञान सूत्रों के स्तम्भों में से गुजरता हुआ मस्तिष्क के पिछले

भाग तक पहुंच गया। मस्तिष्क में इसका यह अभिप्राय समझा गया कि टांग को उठाया जावे, जिससे टांग पर से शरीर का भार हट जावे। यह सन्देश तुरन्त सेरेबेलम में पहुँचा जहां से कई आज्ञाएं स्पाइनल कार्ड के प्राग्र भाग (Front) से नीचे को प्रचारित हुए और क्रियावाही ज्ञान तन्तुओं (Motor Fibres) द्वारा मांस पेशियों को मिले, वे टांग को उठाने लगी।

(Reflex action) प्रतिक्रिया

वास्तव में मस्तिष्क के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह ऐसी बातों के लिए कष्ट करे। क्योंकि मेरुदंडीय ज्ञान तन्तुवेणी में स्थित गौण केन्द्र ही इस प्रकार के थोड़े बहुत कार्य सन्तोष से कर लेते हैं, मानो मस्तिष्क का विचारक भाग सोया ही था वह विधि रिफ्लेक्स एक्शन अर्थात् 'स्वतः कृत प्रतिक्रिया' कहाती है। इसमें एक सिरे का अंग सुख दुःख अनुभूति ग्रहण करता है, कुछ वर्ग ज्ञान सूत्रों को अनुभूति की श्रेणी तक ले जाते हैं। कुछ ज्ञान-कोश (Nerve cells) संदेश को ले भी लेते हैं, और वापस् आज्ञाएं भी दे देते हैं। एक क्रियावाही तन्तु वर्ग उन आज्ञाओं को वापस लेजाते हैं और मांस पेशियां काम करने लगती हैं। यदि इनमें कोई एक न हो वा काम ठीक न करे तो यह प्रतिक्रिया का कार्य होना रुक जाता है।

दक्षिण साचिता की उत्पत्ति

ज्ञान तन्तुओं में जाने वाली प्रेरणाएं सभी एक तरफ से दूसरी तरफ को चली जाती हैं यह इन ज्ञानतन्तुओं की एक विशेषता है। अर्थात् मस्तिष्क का बायां भाग शरीर के दांये भाग

पर शासन करता है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि यदि मस्तिष्क की उच्चकोटि की उन्नति है तो दायें तरफ के अंग की क्रियाएं बहुत सुगमता से अभ्यस्त हो जाती हैं।

कुछ में तो या तो शिक्षा की उपेक्षा से या मस्तिष्क के दायें तरफ़ के विशेष उन्नत होने से बच्चे के शरीर के बाएं भाग में हाथ या पैर में विशेष शक्ति और हुनर होता है।

समय समय पर मनुष्य दोनों अंगों से, समान चतुर होता है, परन्तु साधारणतः दोनों पासों में फर्क होता है, चूंकि बहुत से यन्त्रादि दांये हाथ के लोगों को लक्ष्य करके बनाये जाते हैं, जैसे पेंच, हत्थे आदि इसलिए अच्छा है कि लड़कों को दांये हाथ से काम करना सिखावें, यदि वह आदत न बायें की ही प्रवृत्ति का है तब तो उसकी यह आदत दूर ही नहीं हो सकती।

सहानुभूति-ज्ञानतन्तु व्यवस्था

(Sympathetic System)—सहानुभूतिक ज्ञान तन्तुओं की व्यवस्था में एक दोहरी छोटी छोटी सूत्र जाल चक्रों की माला होती है। जिसका (Ganglia) गैंगलिया या सूत्रजाल चक्र कहते हैं। वे स्पाइनल कालम (मेरुदंड) के दोनों ओर सामने की ओर लगा रहता है। वे कपाल से लेकर छाती, पेट और पेडू तक चली गया है। यह जाल ज्ञानतन्तु सूत्रों से एक दूसरे से जुड़ा रहता है और मेरुदंडीय वेणी से भी जुड़ा रहता है। और उनमें छाते और जाल सा बना लेता है। जिसको प्लेक्सेस (Plexuses) कहते हैं। वे सब अंगों और रुधिर के कोशों तक फैले रहते हैं। इन जालों में भीतरी सबसे अधिक महत्व का सोलर प्लेक्सेस (Solar plexus) या कोलेक गैंगलियन या सूर्य चक्र

है। यह चक्र पेट के गर्त के पास स्थित है। इसको नाभि चक्र या अधिष्ठान चक्र भी कहते हैं। उससे सब रुधिरकोशों और पेट के सब अंगों के ज्ञान तन्तुओं की शाखाएं फैली हैं। इसी ज्ञान-तन्तु जाल के कारण जो कि इस भाग पर आघात लगाते हैं उनसे बहुत क्षति होती है।

इस सहानुभूतिक संस्थान का बहुत गहरा संबंध सरेब्रोस्पाइनल सिस्टम (महामस्तिष्क, मेरुदंडीय ज्ञानवेणी संस्थान) से है तो भी उसका कार्य सर्वथा पृथक् है। जो विशेष अनिच्छा से ही आपसे आप कार्य हो रहे हैं उनको यह नियन्त्रित करता है। जैसे हृदय को, पेट (आमाशय) को, आंतो को, रुधिर कोशों की भित्तियों में लग्न सब मांसपेशियों को। उनकी रुधिर प्रवाह पर भी यही शासन करता है और इस प्रकार देह के तापमान को व्यवस्थित करता है। भोजन परिपाक और अनेक पाकोपयोगी रस ग्रन्थियों, यकृत, पेनक्र्यास आदि पर भी इसका नियन्त्रण है।